ह्रीः

दुर्लभबौद्धग्रन्थशोधपत्रिका

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

39

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी
2005

धीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

39

सम्पादक

डवङ् समतेन
निदेशक

जनार्दन पाण्डेय

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४९ | बुद्ध पूर्णिमा | खीस्ताब्द २००५

सहायक-मण्डल

ठाकुरसेन नेगी
ठिनलेराम शाशनी
छेरिंग डोलकर
विजयराज वज्राचार्य

बनारसी लाल
छोग दोर्जे
रंजन कुमार शर्मा

३९वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००५

मूल्य : रु० ९५.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, २००५

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīḥ

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

39

Editors

NGAWANG SAMTEN
Director

JANARDAN PANDEY

RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2549 BUDDHA PŪRṆIMĀ C.E. 2005

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Tsering Dolkar
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Chhog Dorjee
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxxix, 550 copies, 2005

Price : Rs. 95.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 2005

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धीः XXXIX

विषयानुक्रमणी

स्तोत्र—

सर्वतथागतस्तवः 1-3

अवलोकितेश्वरनामाष्टशताध्येषणा 4-5

वज्रधरसंगीता स्तुतिः 6-6

श्लोक चतुष्टय व्याख्या— जनार्दन पाण्डेय 7-12

बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय —ठिनलेराम शाशनी 13-36

सिद्धों का दर्शन एवं साधना —गेशे येशे थपखे 37-50

त्रिकायस्तोत्र —ङलछेन नमडोल 51-66

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री —ठाकुरसेन नेगी 67-88

अवलोकितेश्वर के विविध स्वरूप —ठाकुरसेन नेगी 89-98

बौद्धेतर तन्त्रों में गुरु-शिष्य विमर्श —बनारसी लाल 99-120

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (9) —छेरिंग डोलकर 121-134

बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (4) —रञ्जनकुमार शर्मा 135-148

श्रीचक्रसंवरपञ्चक्रमः 149-168

आर्यग्रहमातृका नाम धारणी 169-176

निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (अंग्रेजी) 177-180

निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (तिब्बती) 181-186

•

एकगाथा प्रज्ञापारमिता

उत्पादस्थितिभङ्गदोषरहितां सर्वाश्रयोन्मूलनीं
ग्राहोत्सर्गवियोगयोगविगतां नाभावभावान्विताम् ।
तामन्तद्वयवर्जिनीं निरुपमामाकाशवन्निर्मलां
प्रज्ञापारमितां जिनस्य जननीं शृण्वन्तु बोध्यर्थिनः ॥

ॐ धीः ह्रीः श्रीः श्रुति-स्मृति-विजये स्वाहा ।
तारका तिमिरं दीपो मायावश्यायबुद्बुदम् ।
स्वप्नं च विद्युदभ्रं च एवं द्रष्टव्य संस्कृतम् ॥

(साधनविधान 3/693, पृ० 35-36)

सर्वतथागतस्तवः

[इस अंक में सुवर्णप्रभाससूत्र के 20वें परिवर्त से ''सर्वतथागतस्तवः'', सर्वतथागततत्त्वसंग्रह (पृ० 109-110) से ''अवलोकितेश्वरनामाष्टशताध्येषणा'' तथा साधनमाला (भाग-1, पृ० 15-16) के त्रिसमयराजसाधन से ''वज्रधरसंगीता स्तुतिः'' को उद्धृत कर यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। सर्वतथागतस्तव को भोट पाठ से यथासम्भव संशोधित किया गया है।]

सुवर्णवर्णो जिनतप्तकाय
सुवर्णवर्णो व्यवभासिताङ्ग ।
सुवर्णवर्णो गिरिकागिरीन्द्र
सुवर्णवर्णो मुनिपुण्डरीक ॥ 1 ॥

सुलक्षणैर्लक्षणभूषिताङ्गं
सुचित्रितव्यञ्जनचित्रिताङ्गम् ।
विराजितं काञ्चनसुप्रभासं
सुनिर्मलं सौम्यमिवाचलेन्द्रम् ॥ 2 ॥

ब्रह्मस्वरं सुस्वरब्रह्मघोषं
सिंहस्वरं गर्जितमेघघोषम् ।
षष्ट्यङ्गवद्गर्जितनिर्मलस्वरं
मयूरकलविङ्करुतस्वराजितम् ॥ 3 ॥

सुनिर्मलं सुविमलतेजसुप्रभं
पुण्यं शतलक्षणसमलंकृतं जिनम् ।
सुविमलसुनिर्मलसागरं जिनं
सुमेरुसर्वसुगुणान्वितं जिनम् ॥ 4 ॥

परमसत्त्वहितानुकम्पनं
परमं लोकेषु सुखस्य दायकम् ।
परमार्थस्य सुदेशकं जिनं
परिनिर्वाणसुखप्रवेशकम् ॥ 5 ॥

अमृतस्य सुखस्य दायकं[1]
मैत्रीबलवीर्य-उपायवन्तम् ।
न शक्यं ससुरैस्तव ज्ञानसागरात्
कल्पकोटिभिरेकबिन्दुं प्रकाशितुम् ॥ 6 ॥

एतत्संक्षिप्तं मया प्रकाशितं
किंचिद् गुणबिन्दुगुणार्णवोद्भवम् ।
यच्च समुपचितपुण्यसंचयं
तेन सत्त्वः प्राप्यतु बोधिमुत्तमाम् ॥ 7 ॥

स त्वं मुनीन्द्र शतपुण्यलक्षण-
सहस्त्रश्रीचारुगुणैरलंकृतम् ।
उदारवर्णवरसौम्यदर्शन
सहस्त्ररश्मिरिव प्रसूयते(से) ॥ 8 ॥

अनेकरश्मिज्वलनाकुलप्रभं
विचित्ररत्नाकुलरत्नसंनिभ ।
नीलावदाता(तो)प्यवकाञ्चनाभं
वैडूर्यताम्रारुणस्फटिकाभम् ॥ 9 ॥

न भासते वज्रमिवेन्द्रपर्वतान्
प्रभाविलासाभिरनन्तकोटिभिः ।
प्रसीद मे रौद्रप्रचण्डभानुना
प्रतर्प्यसे सत्त्वसुखैर्वैरिति ॥ 10 ॥

प्रसन्नवर्णेन्द्रियचारुदर्शन
आतृप्तरूपजनकान्तरूप ।
मयूरवर्णशिरजो विराजसे
यथैव मुक्तभ्रमराकुलप्रभम् ॥ 11 ।

---

1. इसके बाद भोटपाठ में दस पाद अधिक हैं। सम्भवत: संस्कृत में छूटा है।

विशुद्धकारुण्यगुणैरलंकृतं
समाधिमैत्रीबलपुण्यसंचितम् ।
विचित्रवर्णैरनुव्यञ्जनान्वितं
समाधिबोध्यङ्गगुणैरलंकृतम् ॥ 12 ॥

त्वया हि प्रह्लादकरी सुखंकरी
शुभाकरं सर्वसुखाकरागमम् ।
विचित्रगम्भीरगुणैरलंकृतं
विरोचसे क्षेत्रसहस्रकोटिषु ॥ 13 ॥

विराजसे त्वं द्युमणीरिवांशुभिः
यथोज्ज्वलं त्वं गगनेऽर्कमण्डलम् ।
मेरुर्यथा सर्वगुणैरुपेतः
संदृश्यसे सर्वत्रिलोकधातुषु ॥ 14 ॥

गोक्षीरशङ्खकुमुदेन्दुसंनिभः
तुषारपद्माभसुपाण्डुरप्रभः ।
दन्तावलिस्ते मुखतो विराजते
सद्राजहंसैरिव चान्तरिक्षम् ॥ 15 ॥

त्वत्सौम्यवक्त्रेन्दुमुखान्तरे स्थिता
प्रदक्षिणावर्तसुकुण्डलीव ।
वैडूर्यवर्णैरसितोर्णरश्मिभि-
र्विरोचसे सूर्य इवान्तरिक्षे ॥ 16 ॥

इति श्रीसुवर्णप्रभासोत्तमसूत्रेन्द्रराजे सर्वतथागतस्तवः।

•

अवलोकितेश्वरनामाष्टशताध्येषणा

पद्मसत्व महापद्म लोकेश्वर महेश्वर ।
अवलोकितेश धीराम्य वज्रधर्म नमोऽस्तु ते ॥ 1 ॥

धर्मराज महाशुद्ध सत्वराज महामते ।
पद्मात्मक महापद्म पद्मनाथ नमोऽस्तु ते ॥ 2 ॥

पद्मो[द्भव] सुपद्माभ पद्मशुद्ध सुशोधक ।
वज्रपद्म सुपद्माङ्ग पद्मपद्म नमोऽस्तु ते ॥ 3 ॥

महाविश्व महालोक महाकार्य महोपम ।
महाधीर महावीर महाशौरे नमोऽस्तु ते ॥ 4 ॥

सत्वाशय महायान महायोग पितामह ।
शम्भु शङ्कर शुद्धार्थ बुद्धपद्म नमोऽस्तु ते ॥ 5 ॥

धर्मतत्त्वार्थ सद्धर्म शुद्धधर्म सुधर्मकृत् ।
महाधर्म सुधर्माग्र्य धर्मचक्र नमोऽस्तु ते ॥ 6 ॥

बुद्धसत्त्व सुसत्त्वाग्र्य धर्मसत्त्व सुसत्त्वधृक् ।
सत्त्वोत्तम सुसत्त्वज्ञ सत्त्वसत्त्व नमोऽस्तु ते ॥ 7 ॥

अवलोकितेश नाथाग्र्य महानाथ विलोकित ।
आलोकलोक लोकार्थ लोकनाथ नमोऽस्तु ते ॥ 8 ॥

लोकाक्षराक्षरमहा अक्षराग्र्याक्षरोपम ।
अक्षराक्षर सर्वाक्ष चक्राक्षर नमोऽस्तु ते ॥ 9 ॥

पद्महस्त महाहस्त समाश्वासक दायक ।
बुद्धधर्म महाबुद्ध बुद्धात्मक नमोऽस्तु ते ॥ 10 ॥

बुद्धरूप महारूप वज्ररूप सुरूपवित् ।
धर्मालोक सुतेजाग्र्य लोकालोक नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥

पद्मश्रीनाम नाथाग्र धर्मश्रीनाथ नाथवान् ।
ब्रह्मनाथ महाब्रह्म ब्रह्मपुत्र नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥

दीप दीपाग्र्य दी[पोग्र दीपा]लोक सुदीपक ।
दीपनाथ महादीप बुद्धदीप नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥

बुद्धाभिषिक्त बुद्धाग्र्य बुद्धपुत्र महाबुध ।
बुद्धाभिषेक मूर्धाग्र्य बुद्धबुद्ध [नमोऽस्तु] ते ॥ 14 ॥

बुद्धचक्षो महाचक्षो धर्मचक्षो महेक्षण ।
समाधिज्ञान सर्वस्व वज्रनेत्र नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥

यैवं सर्वात्मना गौणं नाम्नामष्टशतं तव ।
भावयेत्स्तुनुयाद् वापि लोकैश्वर्यमवाप्नुयात् ॥ 16 ॥

अध्येषयाम त्वां वीर प्रकाशय महामुने ।
स्वकं तु कुलमुत्पाद्य धर्ममण्डलमुत्तमम् ॥ 17 ॥ इति ॥

॥ इति अवलोकितेश्वरनामाष्टशताध्येषणा ॥

•

वज्रधरसंगीता स्तुतिः

असमाचलाः समतसारधर्मिणः
करुणात्मका जगति दुःखहारिणः ।
असमन्तसर्वगुणसिद्धिदायिनो
अमलाचलाः समवराग्रधर्म्मिणः ॥ 1 ॥

गगनसमोपमकता न विद्यते
गुणलेशरेणुकणिकेऽप्यसीमिके ।
सदसत्त्वधातुवरसिद्धिदायिषु
विगतोपमेषु असमन्तसिद्धिषु ॥ 2 ॥

सततामला करुणावेगोत्थिता
प्रणिधानसिद्धिरविरोधधर्मता ।
जगतोऽर्थसाधनपरासमन्तिनी-
सततं विरोचति महाकृपात्मनाम् ॥ 3 ॥

न निरोधितां करुणचारिकाकुला
व्रजते त्रिलोकिवरसिद्धिदायिका ।
अमितामितेषु सुसमाप्तितां गता
गतिं गतेष्वपि अहो सुधर्मता ॥ 4 ॥

त्रिसमयेऽग्रसिद्धि वरदा ददन्तु मे
वरदानताग्रगतितां गताः सदा ।
सकलास्त्रिलोकिवरदाग्रसाधका
नाथास्त्रियध्वगतिका अनावृताः ॥ 5 ॥

॥ इति त्रिसमयराजकल्पोक्ता वज्रधरसंगीता स्तुतिः ॥

•

श्लोक चतुष्टय व्याख्या

—जनार्दन पाण्डेय—

[योगिनीसञ्चारतन्त्र के प्रारम्भिक चार श्लोक ''अथातः संप्रवक्ष्यामि...'' से ''सप्तत्रिंशद्योगेन...'' तक, यद्यपि ग्रन्थानुक्रम को ही सूचित करते हैं और इनमें प्रथम श्लोक से ग्रन्थ के अनुबन्ध (अभिधान, अभिधेय, सम्बन्ध, प्रयोजन तथा प्रयोजन-प्रयोजन) बताये गये हैं। दूसरे और तीसरे में उद्देश, निर्देश और प्रतिनिर्देश की चर्चा और चौथे में 37 बोधिपाक्षिक धर्मों द्वारा इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने का विधान है। इन श्लोकों की सामान्य व्याख्या ग्रन्थ में देखी जा सकती है, किन्तु उपदेशानुसारिणी टीकाकार अलककलश ने इनकी बाह्य व्याख्या, आन्तर व्याख्या और गुह्य व्याख्या नाम से तीन विशिष्ट व्याख्याएँ की हैं। टीकाकार के ही शब्दों का यथावद् हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया जा रहा है।]

उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की भावना द्वारा विकल्पों का प्रहाण ही योग है। इस योग से युक्त अर्थात् अविकल्पसंविदात्मिका प्रज्ञाएँ योगिनी कहलाती हैं। मण्डल चक्रादि में स्थित इन योगिनियों का योगिशरीर के तीन या पाँच चक्रों में सत्त्वों के हितार्थ सम्यक् विचरण ही योगिनीसञ्चार है। इस सञ्चार की विधि अर्थात् पञ्चाकाराभिसम्बोधि आदि क्रम से उसके उत्पादन के उपायों की जिसमें चर्चा हो, वही योगिनीसञ्चारतन्त्र है। इसे लक्षश्लोकात्मक बृहत्तन्त्र से उद्धृत लघुतन्त्र कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक चार श्लोक ये हैं—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि सञ्चारविधिमुत्तमम् ।
तारयेदं त्रिचक्रात्मयोगमार्गव्यवस्थितम् ॥ 1 ॥

गोपितं यत्तथा तन्त्रेऽनुलोमविलोमतः ।
उद्देशं च यथा प्रोक्तं निर्देशं च तथैव च ॥ 2 ॥

प्रतिनिर्देशं समस्तं वै संकेतविधिविस्तरम् ।
येन विज्ञातमात्रेण साधकः सिद्धिमाप्नुयात् ॥ 3 ॥

सप्तत्रिंशद्योगेन बोधिसत्त्वा व्यवस्थिताः ।
लोके प्रभाव्य विख्याता श्रीहेरुकजगत्परम् ॥ 4 ॥

इन चारों श्लोकों की सामान्य व्याख्या टीकाकारों ने की है, जिसका सारांश है—प्रथम श्लोक से ग्रन्थ का परिचय अर्थात् नाम, नाम का हेतु और प्रयोजन आदि बताये

हैं। दूसरे और तीसरे श्लोक से अन्य तन्त्रों में अथवा मूलतन्त्र में जिन विषयों को अनुलोम-विलोम अर्थात् क्रम और व्यतिक्रम से गोपनीय रखा गया था, उन्हें उद्देश, निर्देश और प्रतिनिर्देश द्वारा स्पष्ट किया गया है। चौथे श्लोक से 37 बोधिपाक्षिक धर्मों के रूप में 37 माण्डलेयात्मक चतुर्वक्त्र द्वादशभुजात्मक श्रीहेरुक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

चूँकि इन योगिनियों की तीन या पाँच चक्रों में पूजा के समय जो भावना की जाती है, वह बाह्य, आन्तर और गुह्य पूजा के रूप में तीन प्रकार से की जाती है। इसी प्रकार उपदेशानुसारिणी-टीकाकार अलककलश ने इन चार श्लोकों की बाह्य, आन्तर और गुह्य रूप में एक विशिष्ट व्याख्या की है, जिसका उनकी टीका का प्रतिपद हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

बाह्य व्याख्या

अथातः यहाँ अथ शब्द से अनन्तर और अतः से क्रम का बोध होता है अर्थात् अथ=खसमतन्त्र की देशना के अनन्तर (बाद में) अतः=क्रम से। **सञ्चारविधिं** अभेद्यादि लक्षणों वाली योगिनियों=नाड़ियों की नखदन्तादि बाह्य धातु रूप में सञ्चार=गमन की विधि=प्रकार अर्थात् आभ्यन्तर प्राणायामादि लक्षणा पूर्वक प्राप्त अनुभव को संप्रवक्ष्यामि=अच्छी प्रकार कहूँगा। क्योंकि बाह्य प्रपञ्च से रहित संवृत बोधिचित्त से ही उसमें प्रवृत्ति होती है। अतः वह **उत्तम**=उत्कृष्ट है। इसलिए **भावनीयम्**=संवृत बोधिचित्त द्वारा आधाराधेय का अभेद मानकर उसकी भावना करनी चाहिये (या अनुभव करना चाहिये)। **इदम्**=यह। **त्रिचक्रात्म**=जैसे बाह्य चित्त, वाक्, काय इन तीन चक्रों में प्रचण्डा खण्डकपाली आदि वीर-वीरणियों की भावना की जाती है, वैसे ही आन्तर शिर आदि स्थानों में नखदन्तादि धातु रूप होने से संवृत बोधिचित्त वाले रागजातीय पुद्गल द्वारा प्रज्ञोपाय समापत्ति की सहायता से उसे त्रिचक्रात्मक समझना चाहिए। इसी को स्पष्ट करते हैं—**योगमार्गव्यवस्थितम्**-योग अर्थात् लय, भोग और अधिकार-लक्षणों वाला प्रयोग, उसका मार्ग अर्थात् शिरः पुल्लीर से कुलूता पाद पर्यन्त में व्यवस्थित=उसमें स्थित होने की अनुभूतियों द्वारा भावना करना।

वह योगमार्ग क्या है? इसे बताते हैं—**गोपितं यत् तथा तन्त्रे** यत्=जिसे लय भोग अधिकार रूप से, तथा=निश्चय ही, तन्त्रे=बृहत् और सूक्ष्म रूप मूलतन्त्र में, गोपितम्=गुप्त रखा गया है। गुप्त रखने का कारण बताते हैं—क्योंकि तन्त्र में जो कहा गया है, वह तो सामान्य रूप से सभी विनेयजनों के लिये है, किन्तु उसका वास्तविक अर्थ तो बोधिसत्त्व ही समझ पाते हैं। इसलिए अपने मुख से देशनाकार ने उसे स्पष्ट न कहकर गोपनीय रखा है।

लयभोगाधिकार क्रम को जानने वाले वज्रपाणि वज्रगर्भ आदि ही उसे जान पाते हैं। कैसे गोपनीय रखा है? इस पर कहते हैं—**अनुलोमविमलोमेन संस्थितम्** पुल्लीरमलय से कुलूता पर्यन्त जो अनुभव क्रम है, उसे अनुलोम कहते हैं, इसे वायु के धारणा बल से समझें या करण प्रयोग से। व्या द्या आदि बीजों के न्यास द्वारा यथासम्भव मृदु मध्य अधिमात्र पुद्गलों को समझाने के लिये कुलूता से आरम्भ कर पुल्लीर पर्यन्त के अनुभव क्रम को विलोम कहते हैं। **उद्देशमिति** इसलिए इस प्रकार के क्रम की भावना से उन दोनों का जो अर्थ है, उसे उद्देश कहते हैं। बाह्य प्रज्ञोपाय समापत्ति निमित्त आदेश ही उसका लक्ष्य होता है। जैसा कि कृष्णपाद ने गुह्यतत्त्वप्रकाश में कहा है—उद्देश से ही मन्थ-मन्थान होता है। **यथा प्रोक्तं निर्देशं च तथैव च** उद्देश को जिस प्रकार गोपनीय रखा गया है, उसी प्रकार निर्देश को भी गोपनीय रखा गया है। जैसे कि कहा गया है—"निर्देश को भी इसी प्रकार समझना चाहिये"।

प्रतिनिर्देशं समस्तं वै प्रतिनिर्देश अर्थात् व्याख्या, जिसका साधन के अङ्गरूप में निर्देश किया है, उसी को महासाधन के रूप में भी कहा गया है, क्योंकि वह समस्त विकल्पों की विनिवृत्ति स्वरूप है, इसलिये। **संकेतविधिविस्तरम्** संकेतविधि का अर्थ है एवं मया इत्यादि रूप में प्रज्ञा और उपाय का ग्रहण, उसकी विधि अर्थात् प्रकार जिसका विस्तार किया गया है। (टीकाकार ने यहाँ **विस्तरं** के स्थान पर **उत्तमम्** पाठ लिया है, जिसका अर्थ है—रागचर्या के प्रदर्शन से भी और केवल तत्त्वनिष्ठ होने से भी यह उत्तम है।) **येन विज्ञातमात्रेण** जिस संकेतविधि का अनुभव कर लेने से। **साधकः** आन्तरक्रम का अनुभवकर्ता। **सिद्धिमाप्नुयात्** चित्त की दृढ़ता आदि को प्राप्त कर लेता है।

सप्तत्रिंशद्योगेन स्मृत्युपस्थानादि 37 वामदक्षिण नाड़ियों के मन्त्र-बीजाक्षरों के न्यास के प्रयोग से, **बोधिपक्षाः व्यवस्थिताः** बोधिचित्त स्वरूपों को व्यवस्थित किया है अर्थात् जिससे चतुश्चक्रात्मक लोक में **प्रभाव्य** वायुरूप से उपलक्षित होते हुए **विख्याताः** मन्त्रमहायान में प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रीहेरुकजगत्परम् भगवान् का ज्ञानाग्निलक्षण सम्बन्धी जगत्=सत्त्व लोक संग्रह **परम्** ज्ञानाग्निस्वरूप ही हेरुकाकार श्रेष्ठ है ॥ 1-4 ॥

आन्तर व्याख्या

जिन नखदन्तादि युक्त देहधारि रूप में मण्डल चक्रादि में योगिनियों की स्थापना की जाती है, उनकी दृष्टि से बाह्य व्याख्या की है। अब योगिशरीर में नाड़ी रूप में जो योगिनियाँ हैं, उनको लक्ष्य कर आन्तर व्याख्या करते हैं—

इसमें **अथातः** का वही अर्थ है अर्थात् अनन्तर और क्रम से। **सञ्चारविधिं वक्ष्ये** सञ्चार=स्पर्शनालिङ्गनादि के प्रयोगों द्वारा अनुभव करके गुरूपदेशानुसार जो सहज योग का प्रकार है उसको कहूँगा।

उत्तमम् भावनीयम् का अर्थ है महामुद्रारूप होने से उसकी अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में भावना करने योग्य। **त्रिचक्रात्म** तीनों चक्रों में महासुखचक्र से लेकर सम्भोगचक्र तक बोधिचित्त की शिरःस्थान से च्युति अर्थात् सब प्रकार के सुखों की व्याप्ति रूप वज्रमूल की प्राप्ति, जो मणि में बिन्दु के धारण करने के समान ही है। **योगमार्गव्यवस्थिता** योग अर्थात् सहजात्मक, उसको प्राप्त करने का मार्ग अर्थात् रागादि विकल्प परिवर्जन रूप प्रज्ञोपाय योग, उसमें व्यवस्थित=निश्चित। इस प्रकार कहे हुए चतुर्थ तत्त्व को भगवान् ने स्थूल और सूक्ष्म दोनों तन्त्रों में कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप में गोपनीय रखा है। अर्थात् जो इसके पात्र नहीं हैं, उनके लिये प्रकट नहीं किया है। केवल 'चतुर्थं तत्पुनस्तथा' इतना कहकर छोड़ दिया है।

अनुलोमविलोमतः अर्थात् शिर से वज्रमणि के अग्रभाग तक और वहाँ से शिर तक चित्त धातु का वायु आदि से धारण करना। **उद्देशं** उद्देश अर्थात् आनन्दावस्था का अनुभव है, क्योंकि इसमें सुख सूक्ष्म होता है। **निर्देशं** निर्देश परमानुभव है, इसमें सुख के कुछ भाग की उपेक्षा की जाती है, कुछ की नहीं। **प्रतिनिर्देशं** प्रतिनिर्देश विरमानुभव है। यह भीतर ही भीतर अनुभव किये जाने से परिपूर्ण होता है। **संकेतविधि** सहजद्वय का अनुभव करते समय विशिष्ट रूप से दिये गये गुरु के उपदेश की अर्थात् मायोपमादि रूप की अपेक्षा रहती है। **उत्तमं** श्रेष्ठ है, क्योंकि दृष्टान्त का स्वाभाविक रूप से परित्याग होने पर दार्ष्टान्तिक स्वयं ही उपादान का पुष्ट हेतु रह जाता है। जैसे किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाने पर उसमें विकल्प की सम्भावना नहीं रह जाती। **येन विज्ञातमात्रेण** बाद में कहे हुए जिस सहजानुभव क्रम के जान लेने मात्र से अर्थात् स्वयं के अनुभव से या गुरु के उपदेश द्वारा समझ लेने पर। **साधकः** गुरुतत्त्व की साधना में लगा व्यक्ति। **सिद्धिं** सिद्धि को अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् सम्पूर्ण बुद्धगुणों से अलंकृत हो जाता है।

उसी को दर्शाते हैं—**सप्तत्रिंशद्योगेन** स्मृत्युपस्थानादि रूप फलावस्था से संगृहीत प्रयोग द्वारा, **बोधिपक्षाः** बोधि अर्थात् पारमार्थिक सहजानुभव रूप, उसमें जो पक्ष अर्थात् उपाय हैं, वे। **व्यवस्थिताः** व्यवस्थित किये गये हैं, क्योंकि उसी सहजसिद्धि में गुणों के अभाव से सहजसिद्धि नहीं होती। **लोके** लोक अर्थात् त्रैधातुक संग्रह में। **प्रभाव्य**

व्याख्याता: सहज से अभिन्न रूप में बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना करके योगिनी समूह के रूप में कहे गये हैं।

इसका फलितार्थ यह है कि योगी चतुर्थ तत्त्व के साक्षात्कार पर्यन्त सभी में सम्पूर्ण बुद्ध गुणों का अनुभव करता है। वैसे ही समस्त त्रैधातुक जगत् में भी अनुभव करता है। इसी को स्पष्ट करते हैं—**श्रीहेरुकजगत्परम्** अर्थात् योगी को त्रैधातुक जगत् भी सहजाकार ही प्रतीत होता है, उससे भिन्न नहीं। वह सब कुछ हेरुकाकार ही देखता है, उससे भिन्न नहीं॥ 1-4॥

गुह्य व्याख्या

अथात: इसका अर्थ पूर्ववत् है—खसमतन्त्र के अनन्तर, क्रम से।

सञ्चारविधिं सम्प्रवक्ष्यामि सब प्रकार से सभी स्कन्ध धात्वायतनों में देवताओं का सञ्चार अर्थात् विनेयजन के अनुरूप उनकी भावना का जो प्रकार है उसको कहूँगा। इससे प्रथम पटल में उक्त विषय की सूचना दी है। **उत्तमम्** जो बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना से और पञ्चक्रमों में स्थित देवताओं के समूह के साथ उनके मेलन के कारण उत्कृष्ट है, अर्थात् पारमितानय और मन्त्रनय के भावना प्रकार के मिल जाने से श्रेष्ठ है। इससे दूसरे तीसरे पटलों में उक्त विषय को सूचित किया है। **भावनीयं त्रिचक्रात्म** त्रिचक्रात्मक=चित्त काय वाक् चक्रभेद से बहिर्मण्डल चक्र में व्यवस्थित वीरों का चौबीस आन्तर धातुओं में न्यास करने से, इससे चौथे पटल में उक्त विषय सूचित होता है। **योगमार्गव्यवस्थिता:**। (यहाँ योगमार्गव्यवस्थितैः न कहकर व्यवस्थिता: ऐसा प्रथमान्त प्रयोग किया है) योग का अर्थ है झटित्याकारादि क्रम से मण्डलचक्र भावना स्वरूप, उसका जो मार्ग अर्थात् भावना का आधारभूत स्थान। उसके द्वारा व्यवस्थित=अधिमुक्तियों से भावना करने योग्य है। इससे पंचम पटल के विषय की सूचना है।

गोपितं यत्तथा तन्त्रे भगवान् ने बारह हाथों वाले श्रीहेरुक के द्वादश आयुध गिनाये हैं सूक्ष्म मूल तन्त्र में और दूसरे पटल में दो भुजाओं वाले हेरुक के आयुधों का निर्देश किया है। इस प्रकार अपने ही मुख से संग्रहरूपमूलतन्त्र में सन्दिग्ध रूप में कहकर उसे गोपनीय रखा है, इससे छठे पटल का विषय सूचित किया है। **अनुलोमविलोमत:** पञ्चचक्रात्मक मण्डलभावना के बाद अन्य भावनाओं को गोपनीय रखा है इससे कवचद्वय तथा ज्ञानचक्र के आकर्षण से अनुक्रम को छोड़कर व्यतिक्रम से भावना करने को कहा है। इससे सप्तम और अष्टम पटलों के विषयों को सूचित किया है। **उद्देशं च यथा प्रोक्तं** कायत्रय के उद्देश से प्रवृत्तिक्रम और निवृत्तिक्रम को कहा गया है। इसमें कायद्वय से प्रवृत्तिक्रम और तीसरे धर्मकाय से निवृत्तिक्रमे व्यक्त होता है। इससे नवम पटल का विषय

सूचित किया है। **निर्देशं च तथैव च** प्रथम पटल से जो समाहित योग का प्रतिपादन किया था अब असमाहित योग अर्थात् चर्यालक्षण और दशमी पूजा लक्षण आदि का विस्तार से निर्देश है। इससे दशम पटल के विषय को सूचित किया है।

प्रतिनिर्देशं समाहितयोग और असमाहित योग के समाप्त हो जाने पर सर्वविशुद्धि का प्रतिनिर्देश होता है। इससे ग्यारहवें पटल के विषय को सूचित किया है। **समस्तं वै** पारमार्थिक तत्त्व का प्रतिपादन करने से सम्पूर्ण क्रमद्वय की व्याख्या हो जाती है। इससे बारहवें पटल का विषय सूचित है। **संकेतविधिः** बाह्य पीठादि का आन्तर स्थान रूप से नामकरण हो जाने से चतुर्वीरसंग्रह हस्तपूजा आदि का विचार करने से। इससे तेरहवें तथा चौदहवें पटलों के विषय को सूचित किया है।

उत्तमम् (यहाँ पर निबन्ध टीकाकार ने **विस्तरम्** पाठ लिया है, किन्तु प्रस्तुत टीकाकार ने उत्तमम् पाठ माना है, जिसका अर्थ है—) चर्याव्रत के निर्देश से ६ मुद्रादि मन्त्रों द्वारा विशुद्धि का आख्यान होने से यह सर्वोत्कृष्ट है। इससे पन्द्रहवें पटल की सूचना है। **येन विज्ञातमात्रेण** जिस संचारविधि के अभ्यास मात्र से। **साधकः** सञ्चार तन्त्र के क्रमद्वय की साधना करने वाला योगी। **सिद्धिमाप्नुयात्** हेरुकीकरण रूप महामुद्रासिद्धि को प्राप्त करता है।

[1]**सप्तत्रिंशद्योगेन** 37 संख्या में मानी गई डाकिनियों (मामकी आदि देवियों) के प्रतिपादन रूप। **बोधिपक्षाः** बोधि का अर्थ है निरावरण ज्ञानरूप श्रीहेरुक का स्वरूप, उसके पक्ष अर्थात् अङ्ग, जो तत्त्वार्थ प्रतिपादन के लिये देवताचक्र रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं, वे। **व्यवस्थिताः** व्यवस्थित किये हुए अर्थात् योगक्रिया तन्त्र आदि में जिस रूप में कहे गये हैं ठीक उसी रूप में स्थित हुए। **लोके प्रभाव्य विख्याता** लोक अर्थात् सामान्य पृथक्जनों में भी प्रत्येक व्यक्ति में, प्रभाव्य-भावना के प्रकर्ष पर्यन्त अर्थात् सम्पूर्ण भावना से, विख्याता- योगिविज्ञान में स्पष्ट रूप से समझाये गये हैं। **श्रीहेरुकजगत्परम्** मण्डल या माण्डलेय के रूप में न होने पर भी श्रीहेरुक को जगत् अर्थात् सत्त्वार्थ निमित्त प्रदर्शित किया गया है। इससे सत्रहवें पटल में व्यक्त भावों को सूचित किया गया है।

पूरे तन्त्र की अर्थात् योगिनियों के सञ्चार की यही गुह्य व्याख्या है।

•

1. 37 बोधिपाक्षिक धर्मों के योगिनीसञ्चार को विस्तृत रूप में 'धीः' के 38वें अंक में "रहस्ये परमे रम्ये" शीर्षक निबन्ध में देखें।

बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय

—ठिनलेराम शाशनी—

[प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत इस अंक में CLAUDIO CICUZZA द्वारा सम्पादित ग्रन्थ "THE LAGHUTANTRAṬĪKĀ BY VAJRAPĀṆI" (A Critical Edition of the Sanskrit Text) से पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है। उपर्युक्त ग्रन्थ विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर भोट-पाठ की सहायता से विद्वतापूर्वक पाठ-निर्णय कर सम्पादित किया गया है तथा ग्रन्थ से सम्बद्ध विस्तृत भूमिका एवं परिशिष्ट के साथ रोमनलिपि में SERIE ORIENTALE ROMA-LXXXVI सीरीज़ के अन्तर्गत रोम स्थित ISTITUTO ITALIANO PER L' AFRICA E L' ORIENTE नामक संस्थान से वर्ष 2001 में प्रकाशित हुआ है।

वज्रपाणि विरचित यह ग्रन्थ लक्षाभिधानतन्त्र, जो संवरतन्त्र का मूलतन्त्र माना जाता है, से उद्धृत लघुतन्त्र अर्थात् 51 पटलात्मक हेरुकाभिधान चक्रसंवरतन्त्र के मण्डलावतार नामक प्रथम पटल के ''अथातो रहस्यं ....नेष्टसिद्धिरवाप्यते'' पर्यन्त साढ़े दस श्लोकों की टीका के रूप में निबद्ध है।]

अकारः

इहाकारः शून्यताप्रतिपादकः सप्तम्यन्त एकारो भवति। अत ए इति संज्ञया आकाशधातुर्गृह्यते सर्वाधारः। तथा डाकिनीवज्रपञ्जरे भगवानाह—

आकाशे त्वजड़े स्वच्छेऽनवकाशप्रकाशिनि ।
विश्वे वज्रालये लयने सर्वधातौ मनोरमे ॥ (ल० त० टी०, पृ० 48)

अभिषेकः (एकादशः)

...पुनस्तत्रैव पञ्चदशमे पटले चोक्तम्—

प्रथमं तोयसेकेन द्वितीयं मौलिसेकतः ।
तृतीयं पट्टसेकेन चतुर्थं वज्रघण्टया ॥

पञ्चमं स्वाधिपेनैव नामसेकन्तु षष्ठमम् ।
बुद्धाज्ञा सप्तमं सेकं कलशं सेकमष्टमम् ॥

नवमं गुह्यसेकेन दशमं प्रज्ञाभिषेकतः ।
तत्त्ववज्रप्रयोगेण सर्वान् वज्रव्रतान् ददेत् ॥

व्याकरोति स्वयं शास्ता एष सेकविधिं स्वयम् ।
आचार्यो नावग(म)न्तव्यः सुगताज्ञां न लंघयेत् ॥ इति।

एवमेकादशोऽभिषेकः। प्रधानं तत्त्ववज्रप्रयोगेणेति भगवतो विस्पष्टवचनाच्चतुर्थो वैकादशोऽभिषेकः। पृथगेवावगन्तव्यो विद्वद्भिरिति। (ल० त० टी०, पृ० 129)

अभिषेकाः (चत्वारः)

अत्र प्रज्ञाङ्गे लौकिकलोकोत्तरसत्येनाभिषेकाश्चत्वारः। तेषु त्रयो लोकसंवृत्या चतुर्थः परमार्थ इति स च योगगम्यः परमार्थसत्येनावगन्तव्यः सद्‌गुरूपदेशतः। तथा च समाजोत्तरे भगवानाह—

अभिषेकं त्रिधा भिन्नं अस्मिन् तन्त्रे प्रकीर्तितम् ।
प्रथमं कलशाभिषेकं द्वितीयं गुह्यमिष्यते ॥
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयञ्च चतुर्थं तत्पुनस्तथा ।

इति चत्वारोऽभिषेकाः। तथा हेवज्रादिके आचार्य-गुह्य-प्रज्ञा च चतुर्थं तत्पुनस्तथेत्येवमुभयतन्त्रे चत्वारोऽभिषेकाः अभिषेकक्रमपाठात्। न ते तावदानन्दादिक्षणा विचार्यमाणा भवन्तीति। तथा मायाजालादिके उदकादिसप्ताभिषेकाः पृथगवगन्तव्या विचक्षणैरिति। तथाऽऽदिबुद्धे भगवानाह—

उदकं मुकुटः पट्टो वज्रघण्टो महाव्रतम् ।
नामानुज्ञासमायुक्तः सेकः सप्तविधो नृप ॥

इत्यादिबुद्धादिके। अतः कलशाभिषेकं सप्तसेकानामुत्तरं पृथक्। अथवाऽऽचार्याभिषेकः पृथग् उत्तराणां त्रयाणां प्रथमं द्वितीयं गुह्याभिषेकं प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं चाभिषेकं तेषां त्रयाणामुत्तरोत्तरञ्चतुर्थं तत्पुनस्तथाभिषेकं लोकोत्तरमिति। एवं चत्वारोऽभिषेका अभिषेकक्रमपाठादिति कायवाक्चित्तज्ञानविशुद्ध्यर्थं भगवतोक्ताः। एषु चतुर्थोऽभिषेकः सहजानन्दो न भवति। उभयसत्याभ्यामपि यदि स्यात्तदा चतुर्णामानन्दानां क्रमो भवति। एवं चेदानन्दः कलशाभिषेको भवति। परमानन्दो गुह्याभिषेको भवति। विरमानन्दः प्रज्ञाज्ञानाभिषेको भवति। सहजानन्दश्चतुर्थस्तत्पुनस्तथाभिषेको भवति। एवमव्यवस्था आनन्दादिक्षणभेदेनाभिषेकाणां भवतीति। न चैवमत्र लोकसंवृत्या कलशेनाभिषिक्त आचार्याभिषिक्त गुह्य(प्रे)क्षणेनामृतास्वादेन गुह्याभिषिक्तः कर्ममुद्रासमर्पणेन द्वीन्द्रियजक्षरसुखावबोधेन प्रज्ञाज्ञानाभिषिक्तः। मण्यन्तर्गतबोधिचित्तसुखावबोधेन चतुर्थप्रज्ञाज्ञानेनाभिषिक्त इति। लौकिकसत्येन नेयार्थेन

सेकविधिश्चतुर्विधः। परमार्थतः पुनरेष विचार्यमाणो निरर्थकः। इह यदि प्रथमं कलशाभिषेके शिष्य आचार्यो भूतस्तदा गुह्ये प्रज्ञाज्ञाने चतुर्थे च कोऽसौ भविष्यति। आचार्यत्वं वज्रसत्त्वत्वं नाम। तत्कथं प्रथमकलशाभिषेकेनाभिषिक्त आचार्य इति। तस्मादियं भ्रान्तिर्बालजनानां या युक्त्या न घटतीति। इह तन्त्रान्तरे सन्ध्याभाषान्तरेण नीतार्थेन पुनः कलशशब्देन स्तनावुच्येते। तत् संस्पर्शाद् यत् क्षरं सुखं स कलशाभिषेकः। गुह्ये वज्रास्फालनाद् यत् क्षरं सुखं स गुह्याभिषेकः। द्वीन्द्रियसमापत्तौ यत् स्पन्दसुखं स प्रज्ञाज्ञानाभिषेकः। महामुद्रानुरागेण यदक्षरसुखं स चतुर्थं तत्पुनस्तथाभिषेकः। एवं क्षर-क्षर-स्पन्द-निःस्पदभेदेन चत्वारोऽभिषेकाः। अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेकः सुखचित्तं क्रियत इत्यर्थः। अत्र परमादिबुद्धे भगवानाह—

आदौ सप्ताभिषेको यो बालानामवतारणम् ।
त्रिविधो लोकसंवृत्या चतुर्थः परमार्थतः ॥

कुम्भो गुह्याभिषेकश्च प्रज्ञाज्ञानाभिधानकः ।
पुनरेव महाप्रज्ञा तस्या ज्ञानाभिधानकः ॥

क्षरः क्षरः ततः स्पन्दो निःस्पन्दश्च ततोऽपरः ।
कायवाक्चित्तसंशुद्ध्याऽभिषेकत्रयं क्रमात् ॥
चतुर्थो ज्ञानसंशुद्धिः कायवाक्चित्तशोधकः । इति।

एवं चत्वारोऽभिषेकाः। (ल० त० टी०, पृ० 125-127)

अष्टमहासमयाः (द्विधा)

तथा अत्रैव तन्त्रेऽष्टमहासमयान् भगवानाह, तद्यथा—

सिद्धीनां कारणं नित्यं समयानां तु पालनम् ।
दूतीं नान्यकुलोद्भूतां कामयेत् कामलौल्यतः ॥

अद्वैतं चाप्रतिहतं समयानां तु चेष्टितम् ।
नारीचर्यासुमन्थानं ब्रह्मचर्यं तथानने ॥
आक्रोशो नाड़ीसञ्चारे इत्यष्टौ समयाः स्मृताः ।

अस्य नीतार्थ उच्यते सिद्धीनामिति। इह सिद्धीनां कर्ममुद्रा-ज्ञानमुद्रा-महामुद्रासिद्धीनां तिसृणां कारणं बोधिचित्तं नित्यं हेतुः कामावचररूपावचरसम्यक्सम्बुद्धफलाप्तयेऽच्युतं बोधिचित्तमिति प्रथमः समयः।

समयानां तु पालनमिति। समयाश्चत्वारो बोधिचित्तबिन्दवः। पूर्वोक्तविधानेन तेषां कण्ठे हृदये नाभौ गुह्ये आगतानां प्रज्ञारागद्रुतानां तु षोडशानन्दात्मकानां तेषां पालनं रक्षणं योगिनां द्वितीयः समयः। दूतीं नान्यकुलोद्भूतां कामयेत् कामलौल्यतः। इह कुलिकां त्यक्त्वा बाह्यसिद्ध्यर्थं डाकिन्यादिकामन्यतथागतकुलोद्भूतां न भावयेदिति नीतार्थास्तृतीयः समयः। अद्वैतमिति चतुर्थबिन्दुसमयानामद्वैधीकरणं पूर्णिमान्ते चतुर्थः समयः। अप्रतिहतमिति चकाराच्चतुर्बिन्दुसमयानां चेष्टितं षोडशानन्दरूपमप्रतिहतं कृष्णपक्षेन प्रविष्टमिति पञ्चमः समयः। नारीचर्यासुमन्थानमिति। नारी प्रज्ञापारमिता समन्तभद्रा, तस्याश्चर्या बोधिसत्त्वानामनेकधा सत्त्वार्थं प्रति, तासु चर्यासु सुमन्थानं सुखचित्तं सदा बोधिसत्त्वानामिति षष्ठः समयः। ब्रह्मचर्यं तथानने इति। इह वज्रसुखे आनने सदा अच्युतशीलः सप्तमः समयः। आक्रोशो नाड़ीसञ्चारे इत्यधोगतानां बोधिचित्तबिन्दूनां नाड़ीसञ्चारे अवधूतीखगमुखासञ्चारे गतानां वज्रमणिराक्रोश आकर्षणं गुह्ये नाभौ हृदये कण्ठे ललाटे कर्णिकात् कर्णिकासञ्चारे ऊर्ध्वगमनं रेतस् इत्यष्टमः समयः। एवमेतेऽष्टौ महासमयाः। एतान् यः पालयेन्नित्यं सर्वकालं स सिद्धिं महामुद्रासिद्धिं शीघ्रमाप्नुयादिति अध्यात्मसमयपालनम्।

बाह्ये पुनः सिद्धीनामिति। बाह्यसिद्धीनामकनिष्ठभुवनपर्यन्तं कारणं नित्यं बोधिचित्तोत्पाददानादिपुण्यसंभार इति प्रथमः समयः। समयानां पालनमिति। समया बाह्ये मद्यं गोक्वादिकमवर्णाभिगमनं पञ्चामृतास्वादनं तेषां पालनं देशकुलव्यवहारेण रक्षणं कर्तव्यम्। यदि कर्तव्यं तदाऽतिगुप्तमिति द्वितीयः समय इति। दूतीं नान्यकुलोद्भूतमिति। अन्यकुलं शैवादिकं तत्र कुलेऽभिषिक्तामन्यकुलोद्भूताम्, तामन्यकुलोद्भूतां बौद्धसमयदूषकीं तथाऽन्यां समयरहितां न कामयेदिति। कामलौल्यतो यदि कामयेत् तदा लौकिकसिद्धिहानिर्भवति तृतीयः समयः। अद्वैतमिति। अद्वैतं बोधिचित्तास्वादनं दूतिकावीरयोः सुखं चैककाले इति चतुर्थः समयः। समयानां तु चेष्टितमिति। अप्रतिहतं सेवितानां समयानां चेष्टितं मन्त्रसिद्ध्यादिस्फरणं देवानामप्रतिहतं विघ्नैर्न हन्तुं शक्यत इति पञ्चमः समयः। नारीचर्यासुमन्थानमिति। नारी सर्ववर्णसम्भूता तस्याश्चर्या बहुविधाश्चुम्बनालिङ्गनादिकाः तासु सुमन्थानं मैथुनं कारणमिति षष्ठः समयः। ब्रह्मचर्यं तथानने इति। ब्रह्मचर्यं सुखं तथेति मन्थाने। आनन इति वज्रमुखे वेदितव्यं च्यवनकाले इति सप्तमः समयः। आक्रोशो नाड़ीसञ्चार इति। ललनारसनामध्यसञ्चारे बोधिचित्तस्याक्रोश इति तस्य ग्रहणं जरारोगाद्यपनयनार्थं समयसेवनार्थमित्यष्टमः समयः। एवं बाह्याष्टसमयाः। तान् यः पालयेद् योगी सुसमाहितः लौकिककृत्यवर्जितः स शीघ्रं सिद्धिमाप्नुयादिति तथागतनियमः। (ल० त० टी०, पृ० 153-155)

आदिकर्मणि पूर्वभावना

तथादिकर्मणि पूर्वभावना—

यावन्न कुरुते योगी बोधिचित्तविसर्जनम् ।
योनौ प्राप्नोत्यविच्छिन्नं तावदानन्दमुत्तमम् ॥

तेनैव सुखरूपेण संयुक्तं बुद्धबिम्बकम् ।
भावयेन्नित्यमात्मानं यावच्छुक्रं स्थिरीभवेत् ॥ इति ।

(ल० त० टी०, पृ० 124)

आनन्दचक्रचतुष्टयम् (षोडशीकला)

तथा हेवज्रे भगवानाह—

बोधिचित्तं भवेच्चन्द्रं पञ्चदशकलात्मकम् ।
आलिरूपं महासौख्यं योगिन्यस्तस्य अंशकाः ॥

इदमपि सेकवज्रपदं वक्ष्यते। इह प्रतिपदादयः पञ्चतिथयः शुक्लपञ्चमीं यावन्नैरात्म्यादयो योगिन्यः पञ्चस्कन्धविशुद्ध्या प्रथमानन्दचक्रम्। तथा षष्ठ्यादयः पञ्चतिथयो दशमीं यावत्पुक्कस्यादयो योगिन्यः पञ्चधातुविशुद्ध्या द्वितीयं परमानन्दचक्रम्। तथैकादश्यादयः पञ्चतिथयः पूर्णिमां यावद् गौर्यादयो योगिन्यः पञ्चविषयशुद्ध्या तृतीयं विरमानन्दचक्रम्। तदन्ते सहजानन्दो हेवज्रो भगवान् शून्याच्छून्यः षोडशीकला बोधिचित्तस्येति सेकार्थः। तथा भगवानाह—

आनन्दं प्रथमं प्रोक्तं परमानन्दं द्वितीयकम् ।
तृतीयं विरमानन्दं सहजानन्दं तु शेषतः ॥

इत्येवमादि सेकार्थः। इह पञ्चपञ्चदेवी त्रिचक्रान्ते चतुर्थः सहजानन्दः षोडशीकला बोधिचित्तस्य लोकसंवृत्या भगवतोक्त इति। (ल० त० टी०, पृ० 127-128)

एवंकारः (प्रज्ञोपायात्मकयोगः)

ए भगः कमलं शुद्धं सुखावासः सुखावती ।
सिंहासनं निरालम्बं तथता पारमिता मता ॥ इत्याधारः।

तथाऽऽधेयः—

वं वज्री वरदो वादी सहजानन्दमक्षरम् ।
शिवः शान्तश्च कल्याणमीश्वरः सर्वगः परः ॥

इत्याद्यनेकसंज्ञाभिराधेयः परिगीयते। भगवता नामसंगीत्यां ज्ञानकायो निरन्वय इति।

प्रज्ञापारमिताधारः सर्वाकारा त्वकल्पिता ।
करुणा या निरालम्बा सा आधेयः प्रकाशितः ॥

अत उक्तं तन्त्रान्तरे—

एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये वंकारभूषितम् ।
आलयं सर्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरण्डकम् ॥ इति।

तथा—

अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम् ।
शून्यताकरुणाऽभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम् ॥

इत्याद्यनेकतन्त्रान्तरेऽयं प्रज्ञोपायात्मको योगो भगवतोक्तः। (ल० त० टी०, पृ० 48-49)

कुलिकापूजा (नीतार्थः)

इह कुलिका मध्यमावधूती वज्रवाराही निरावरणा ग्राह्यग्राहकवर्जिता योगिनां मारसमूहस्य क्षयकारिणी बोधिचित्तच्यवनात् मृत्युदायिका। सा वज्रयोगिनी स्वचित्त-प्रतिभासमात्रा महामुद्रा सर्वाकारवरोपेता प्रज्ञापारमिता शून्यता तथता कुलिका पद्ममित्युच्यते। तां कुलिकां परमाक्षरसुखेनाच्युतबोधिचित्तबिन्दुना चन्द्रद्रुतेन महारागेण मध्यमोत्तमश्वासेन गन्धोदकसहितेन कुलिकासंभूतेन। तेनोपायेन तामेव स्वप्रज्ञां पूजयेदिति। ग्राह्यग्राहकचित्त-योर्ज्ञेयज्ञानयोः शून्यताकरुणयोरेकत्वं योगी कारयेदिति नीतार्थः। (ल० त० टी०, पृ० 59)

कामसिद्धिः (महामुद्रासिद्धिः)

...तदेव प्रज्ञापारमिता सर्वाकारवरोपेता सा चास्मिन्तन्त्रे कामसिद्धिरित्युक्ता भगवता प्रज्ञातन्त्रत्वात्। इह कामो महारागो वज्रसत्त्वो महार्थः परमाक्षरः। सिद्धिर्महामुद्रा प्रज्ञापारमिता सर्वाकारवरोपेता इति। अथवा कामो निरालम्बा महाकरुणा सिद्धिः सालम्बा महाशून्यतेति। योगिनां स्वसंवेद्यत्वादिति। कर्ममुद्राज्ञानमुद्रासिद्ध्योरुत्तरासिद्धिः। तां महामुद्रां कामसिद्धिं सर्वज्ञतां सर्वाकारज्ञतां मार्गज्ञतां मार्गाकारज्ञतां दशबलचतुर्वैशारद्यादि बुद्धगुण-दायिकीं भावयेद् बुद्धत्वाय इति। (ल० त० टी०, पृ० 123-124)

अतो महामुद्रा सिद्ध्यर्थं कर्ममुद्रां ज्ञानमुद्रां त्यक्त्वा अन्तर्गतेन मनसा बोधिचित्तेन कामसिद्धिं महामुद्रां भावयेदिति। ललाटाच्चन्द्रद्रुतेन वज्रमणेरच्युतेन खगमुखावधूत्यन्तर्गतेन मनसा कामसिद्धिं भावयेदिति तथागत नियमः। (ल० त० टी०, पृ० 127)

चतुर्थाभिषेकः (चतुर्थं तत्पुनस्तथा)

इह यदि प्रज्ञोपायात्मके तन्त्रराजे बालानां प्रतिपत्त्यर्थं कर्ममुद्रानुरागेणोद्भूतं द्वीन्द्रियजं क्षरसुखं प्रज्ञाज्ञानमित्याह भगवान् किल लौकिकसत्येन, न परमार्थसत्येन, कुतश्चतुर्थं तत्पुनस्तथेति भगवतो वचनात्। इह येन तृतीयं प्रज्ञाज्ञानं तदेव चतुर्थमभिषेकं वदिष्यन्ति बालजनास्तेनोच्यते—इह यदि तृतीयं प्रज्ञाज्ञानं तत्पुनस्तथाशब्देन चतुर्थं तदेव तृतीयं तदाभिहितस्याभिधानं स्यात् पुनरुक्तदोषप्रसङ्गतः। अथ बालानां वाक्यं भविष्यति। हेतुस्तृतीयः फलं चतुर्थम्। हेतुफलयोरभेदत्वाच्चतुर्थमपि तृतीयं सिद्धमिति। तेनोच्यते—नैतदेव भगवतो वचनं पूर्वोक्तं परमार्थसत्यतः। कुतो यतो मुद्रात्रयं फलत्रयसाधनाय भगवतोक्तमिति। इह मन्त्रनये त्रिविधं फलं कामरूपसर्वज्ञसिद्धिभेदेन। तत्र कर्ममुद्रासिद्धिः कामावचरफलम्। ज्ञानमुद्रासिद्धी रूपावचरफलम्। महामुद्रासिद्धिः सर्वज्ञताफलम्। वीतरागाणामारूप्यधातुफलं मुद्रात्रयं रहितम्। ततो महामुद्राफलसाधने कर्ममुद्राज्ञानमुद्राहेतुर्न भवति। कर्ममुद्राज्ञान-मुद्राभावनापरित्यागेन महामुद्राभावनानियमादिति। इह द्वीन्द्रियजं क्षरं कामावचरसुखं, स्पन्दलक्षणं रूपावचरसुखं, महासुखं न भवति। तृतीयहेतुनोत्पन्नं क्षरं स्पन्दं तृतीयं फलं न तच्चतुर्थं बुद्धेरुक्तं निःस्पन्दफलत्वादिति। इह चतुर्थं तृतीयमपि अबोद्धारो वदिष्यन्ति। तेन परमादिबुद्धे भगवन्नाह—

कामावचरां सिद्धिं साधयेत् कर्ममुद्रया ।
अकनिष्ठभुवनपर्यन्तं रूपाख्यां ज्ञानमुद्रया ॥

सर्वज्ञतां महायोगी महामुद्राङ्गभावनैः ।
साधयेदक्षरं सौख्यं बुद्धत्वमिह जन्मनि ॥ इति।

अतः तन्त्रतन्त्रान्तरेण सर्वमेतदवगन्तव्यं विद्वद्भिरिति। (ल० त० टी०, पृ० 124-125)

तथा मायाजाले भगवानाह—

सर्वाकारो निराकारः षोडशार्धार्धबिन्दुधृक् ।
अकलः कलनातीतश्चतुर्थध्यानकोटिधृक् ॥

इति सेकवज्रपदं वक्ष्यते। इह सर्वाकारो निराकारो हेतुः पूर्वोक्तं बुद्धबिम्बमिति। षोडशार्धार्धबिन्दुधृगिति बोधिचित्तद्रुतचतुर्बिन्दुधृगिति फलम्। अकलः पञ्चदशकलान्ते स्थितः। कलनातीतः कृष्णप्रतिपदि न प्रविष्ट इति। चतुर्थध्यानकोटिधृगिति। सहजानन्दकोटि-

धृगिति तथागतनियमः। एवं तृतीयोऽभिषेकश्चतुर्थः स एव न भवति। तथा डाकिनीवज्रपञ्जरे चतुर्थाभिषेकं त्रयाणां पृथग्भगवानाह—

प्रथमं कलशाभिषेकं द्वितीयं गुह्यमिष्यते ।
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं तु यथा तन्त्र तथागतः ॥

(ल० त० टी०, पृ० 128-129)

डाकिनीचक्रसंवरम्

इह नेयार्थेन डाकिन्यो वज्रडाकिन्यादयः, अध्यात्मनि षट्त्रिंशन्नाड्यो ज्ञानचित्त-वाक्कायचक्रे मुखाद्यष्टद्वारेष्ववस्थितास्ता एवात्मपीठादिसंज्ञया उक्ता उच्छिष्टश्मशानपर्यन्तम्। बाह्ये मेरोरष्टदिक्षु वक्ष्यमाणक्रमेण देशादि-शिर-आदिस्थाननिर्देश आधाराधेयधर्मिणीनां ज्ञातव्य इति। आसां डाकिनीनां चक्रं समूहं तस्य संवरं एकत्वम्। मेलापकं हेरुकेन सार्द्ध-मात्मपीठादिके डाकिनीचक्रसंवरमिति। हेरुकोऽपि सवीरः पञ्चविंशत्यात्मकः। वज्रवाराही-वीरेश्वरीभिः सार्द्धं सप्तत्रिंशदात्मिका आसां हेरुकेन चतुर्विंशतिवीरैः सह सम्वरो मेलापको डाकिनीनामिति। अत्र हेरुकेण सह द्वादशदूतीनां सम्वरः। वीरैः सह चतुर्विंशतिदूतीनां सम्वरः। स एवालिकालियोगेन मन्त्रबीजेनोच्यते। ...इति लोकसंवृत्या डाकिनीचक्रसंवरः लौकिकीसिद्धिसाधनायेति। नीतार्थेन डाकिनीचक्रसंवर इति डाकिन्येति सप्तत्रिंशद्बोधिपाक्षिक-धर्मास्तेषां चक्रसमूहो धर्मकायलक्षणः शून्यतात्मक इति। तस्य स्वभाविककायेन निरालम्ब-करुणात्मकेन सह संवरमेकत्वम्। अत्र करुणा चन्द्रो बोधिचित्तं पञ्चविंशतिशशिपदलक्षणम्। महासुखं निरावरणं सूर्यो द्वादश-शून्यात्मक इति। तेन सह संवरो डाकिनीचक्रसंवरः।

(ल० त० टी०, पृ० 54-55)

तन्त्रप्रतिष्ठापननियमः

अत्राह लक्षाभिधाने—

शून्यताकरुणयोरैक्यं यस्मिन्तन्त्रे प्रकाशितम् ।
साधनं लोकनाथस्य तत्तन्त्रं बुद्धदेशितम् ॥

लोके संवृतिसत्येन लौकिकीसिद्धिसाधने ।
विकल्पभावना प्रोक्ता मन्त्रजापविधिस्तथा ॥

परमार्थसत्यतः प्रोक्ता सर्वसंकल्पवर्जिता ।
भावनाज्ञानकायस्य साधनाय तथागतैः ॥ (ल० त० टी०, पृ० 50)

दूतिका (षट्त्रिंशत्)

इदानीं षट्त्रिंशत्कुलदूतिका उच्यन्ते—सप्तत्रिंशतमा कुलिकास्तद्यथा मूलतन्त्रे—इह वज्रवाराही कुलिका। अकुलीना डोम्बिनी। डाकिनी शूद्री। लामा क्षत्रिणी। खण्डरोहा वैश्या। रूपिणी ब्राह्मणी। काकास्या म्लेच्छी। उलूकास्या हड्डिणी। श्वानास्या मातङ्गी। शूकरास्या तापिनी। यमदाढी शबरी। यमदूती भिल्ली। यमदंष्ट्रिणी पुक्कसी। यममथनी बर्बरी। प्रचण्डा अंशुकारिणी। चण्डाक्षी कल्यपालिनी। प्रभावती मालाकारी। महानासा हेमकारी। वीरमती कूपकर्ती। खर्वरी वेणुनर्तकी। लङ्केश्वरी कंसकारी। द्रुमच्छाया मणिकारी। ऐरावती लोहकारी। महाभैरवा लाक्षाकारी। वायुवेगा कोषकारी। सुराभक्षी तैलिनी। श्यामादेवी नापिती। सुभद्रा चर्मकारी। हयकर्णा काष्ठकारी। खगानना वंशकारी। चक्रवेगा खटिकिनी। खण्डरोहा कन्दुकी। शौण्डिनी शिबिका। चक्रवर्मिणी नटी। सुवीरा रजकी। महाबला कैवर्ती। चक्रवर्तिनी कुम्भकारी। महावीर्या गणिका। एता यथानुक्रमेण... कुलदूतीपूजाविधौ भगवतोक्ताः। (ल० त० टी०, पृ० 69)

पापमोचनविधिः

इदानीं सर्वपापविमुक्तिरुच्यते-दर्शनेत्यादिना। इह दर्शनं द्विधा। बाह्यं अध्यात्मकञ्च। तथा स्पर्शनं च। इह बाह्यदर्शनं कर्ममुद्रादर्शनं ज्ञानमुद्राप्रकल्पनम्। तयोर्मुखस्तनयोनि-स्पर्शनञ्च। ताभ्यां द्वाभ्यां दर्शनस्पर्शनाभ्यां इति। तथाऽध्यात्मनि त्रैधातुकाशेषबुद्धबिम्बदर्शनं महामुद्रादर्शनं तयोर्महासुखस्पर्शनम्। ताभ्यां द्वाभ्यां दर्शनस्पर्शनाभ्यामिति तथा श्रवणस्मरणेन चेति। इह सद्धर्मश्रवणेन गुरुबुद्धबोधिसत्त्ववीरवीरेश्वरीस्मरणेन च। ताभ्यां द्वाभ्यां श्रवण-स्मरणाभ्यां मुच्यते सर्वपापैस्त्विवति कायवाक्चित्तकृतैः पञ्चानन्तर्यादिदशाकुशलैस्तैः सर्वैर्मुच्यते। अनुज्ञातकालात् पापानामकरणसंवरे स्थितः। न पुनरनुज्ञातः सल्लोभादिना कृत-पापैर्विमुच्यते क्वचिदिति। एवमेव न संशय इति। एवमुक्तक्रमेण चतुर्दशमूलापत्तिरहितो योगी महासुखेन भावितेन भगलिङ्गसमायोगेनाच्युतबोधिचित्तेनेति। पुण्योत्पादविधिः पापमोचन-विधिः। (ल० त० टी०, पृ० 133)

प्रतिशरणानि (चत्वारि)

भगवता चत्वारि प्रतिशरणान्यन्यत्रोक्तानि। तद्यथा—अर्थप्रतिशरणता न व्यञ्जन-(प्रति)शरणता। ज्ञानप्रतिशरणता न विज्ञानप्रतिशरणता। नीतार्थप्रतिशरणता न नेयार्थप्रति-शरणता। धर्मप्रतिशरणता न पुद्गलप्रतिशरणता। (ल० त० टी०, पृ० 47)

बुद्धसंगीतिधर्मधृक्

बुद्धसंगीतिधर्मधृगिति कायवाक्चित्तज्ञानचतुर्बिन्दुधृगिति नीतार्थः।

(ल० त० टी०, पृ० 128)

महागुह्यपूजा (द्विधा)

इह प्रज्ञोपाये तन्त्रान्तरे द्विधा पूजा। बाह्यपूजा-अध्यात्मपूजा चेति। तत्र बाह्यपूजा पञ्चोपचारादिभिः पञ्चामृत-पञ्चप्रदीपादिभिः स्कन्धधात्वादीनां सन्तर्पणमिति। अध्यात्मपूजा स्वरेतोबिन्दुभिरच्युतैश्चतुर्भिर्गुह्यनाभिहृत्कण्ठललाटगतैर्निष्यन्दविपाकपुरुषकारवैमल्यस्वभावैः। विचित्र-विपाक-विमर्दविलक्षणवैधर्मेण तैर्बुद्धानिति रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानस्कन्धान् बोधिसत्त्वांश्चेति चक्षुश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनेन्द्रियधातून् चकारात् पृथिव्यादिधातून् रूपादि-विषयधातून् पूजयेद् बोधिचित्ताच्युतबिन्दुभिर्महाक्षरसुखक्षणैः परिपूरयेदिति नीतार्थः। बाह्ये पुनश्च्युतबिन्दुभिरास्वादितैः पूजयेदिति बाह्यविशुद्ध्यर्थम्। अध्यात्मपूजा महामुद्रासिद्धये स्वरेतोबिन्दुभिर्मण्यन्तर्गतैरिति बिन्दुपूजाविधिनियमः। (ल० त० टी०, पृ० 131)

महामुद्राभावना (द्विविधा)

अस्यैव (महामुद्रा)भावना द्विधा पूर्वबिम्बभावना पश्चाद्बिम्बभावना। पूर्वबिम्ब-भावना धूमादिनिमित्तभावना बिम्बपर्यन्तम्। दृष्टे बिम्बे भगे लिङ्गं प्रतिष्ठापयित्वा पश्चाद्भावना परमाक्षरसुखवृद्ध्यर्थम्। पुनः कर्ममुद्राज्ञानमुद्राभावनाप्रतिषेधो द्वादशसाहस्त्रिके परमादिबुद्धे भगवतोक्ता। तथा च भगवानाह—

कर्ममुद्रां परित्यज्य ज्ञानमुद्रां विकल्पिताम् ।
परमाक्षरयोगेन महामुद्रां विभावयेत् ॥ इति।

(ल० त० टी०, पृ० 124)

महारागः

अत्रैव विरागः कृष्णपक्षः पूर्वोक्तः। तस्यादिर्यो महारागः स विरागादिमहाराग इति। तत्पुरुषेण निर्दिष्टस्तथा तद्वैधर्म्यात् पञ्चदशकलात्मकः शुक्लपक्षो रागस्तदन्ते महारागः षोडशीकलेति। (ल० त० टी०, पृ० 127-128)

योगित्वम् (द्विधा)

इह योगित्वं द्विधा लौकिकं लोकोत्तरञ्च। तत्र लोकोत्तरं योगित्वं बुद्धत्वमिति। तद् विशेषणं परमं पुण्यं पुण्यसंभारपूर्णत्वात्। तथा पवित्रं पापनाशनमिति। तदेव ज्ञानसंभार-

पूर्णत्वाद् पवित्रं पापनाशनिमिति। तद् बुद्धत्वं सिध्यते। मन्त्रजापेन ध्यानेन च सुखेन चेति। इहोक्तं योगित्वमनेनोपायेन सिध्यते योगिनां सिध्यत इत्यागमपाठः। असावुपायः षडङ्गयोगः। ...इह श्रीसमाजोत्तरे भगवानाह—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामश्च धारणा ।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग इष्यते ॥

अतो ध्यानपूर्वः प्रत्याहारो वेदितव्यः। मन्त्रजापपूर्वः प्राणायामो वेदितव्यः। अत्र मन्त्रजापशब्देन नपुंसकजापो वज्रजापो वा प्राणधारणा उच्यते। सुखपूर्वानुस्मृतिर्वेदितव्या। अत्र सुखशब्देन समाधिरुच्यते। एवमेभिः षडङ्गैः सिध्यति योगित्वं बुद्धत्वमिति। सामान्येन बाह्ययोगित्वं लौकिकं सिध्यति। आदिकर्मिकाणां बालयोगिनां लौकिकं फलं मन्त्रजापेन प्रत्याहारसंज्ञिना। ध्यानेन मण्डलचक्रादिविकल्पभावनाचित्तेन सुखेन कर्ममुद्राज्ञान-मुद्राक्षरस्पन्दसुखेन। लौकिकसत्येनाकनिष्ठभुवनपर्यन्तमिति। एवमुभयक्रमेण लौकिकलोकोत्तरं योगित्वं सिध्यति। (ल० त० टी०, पृ० 135-136)

रहस्यम्

रहस्यं धर्मोदयमाकाशधातुः। (ल० त० टी०, पृ० 45)

रहस्यमिति नेयार्थेन कर्ममुद्रा भग उच्यते। नीतार्थेन प्रज्ञापारमिता शून्यता। (ल० त० टी०, पृ० 52)

लौकिकसिद्धयः

तथा लौकिकसिद्धयः इह पर्वते निधानसिद्धिं साधयेत्। गह्वरे रत्नसिद्धिं साधयेत्। कुञ्जे रससिद्धिं साधयेत्। महोदधितटे खड्गसिद्धिं साधयेत्। श्मशाने अञ्जनसिद्धिं साधयेत्। अपरापि तन्त्रोक्तविधिना साधयेन्मन्त्रीति। (ल० त० टी०, पृ० 111)

वज्रपदम्

इह मन्त्रनये प्रज्ञोपायतन्त्रेष्विदानीं वज्रपदं सन्ध्याभाषान्तरेण तन्त्रतन्त्रान्तरे बोद्धव्यम्। ...इदमपि वज्रपदं पञ्चविंशत्साहस्रिके श्रीसमाजे बुद्धो भगवानाह—

वज्रपर्यङ्कतश्चित्तं मण्यन्तर्गतमीक्षयेत् ।
निःस्पन्दादिसुखापूर्णं वैमल्यं यावदेति तत् ॥

तथा—

भगे लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य बोधिचित्तं न चोत्सृजेत् ।
भावयेद् बुद्धबिम्बं तु त्रैधातुकमशेषतः ॥ इति।

इहानेन गाथाद्वयेनास्य वज्रपदस्य पिण्डीकृतोऽर्थोऽवगन्तव्यः। ...इह वज्रमण्यन्तर्गतं बोधिचित्तं अन्तर्गतमन इत्युच्यते। तेनान्तर्गतेन मनसाऽच्युतबोधिचित्तेन कर्ममुद्राप्रसङ्गे ज्ञानमुद्राप्रसङ्गे वा त्रैधातुकलक्षणं बुद्धबिम्बं भावयेदिति। त्रैधातुकं कामरूपारूपलक्षणं स्थिरचलभावस्वभावात्मकं सर्वाकारवरोपेतं भावयेदशेषतो योगीति। (ल० त० टी०, पृ० 123)

वज्रसत्त्वः

...एवमुक्तक्रमेण—

रहस्ये परमे रम्ये सर्वात्मनि सदा स्थितः ।
सर्वदूतीमयः सत्त्वो वज्रसत्त्वः परं सुखम् ॥ इति।

इह पूर्वोक्ते शून्यधातौ सर्वात्मधर्मिणि सदा सर्वस्मिन् कालेऽतीतानागतवर्तमाने स्थित उत्पादविनाशधर्माभावात्। सर्वदूतीमयः सत्त्व इति। दूत्यो डाकिन्यष्टौ आकाशसमाः स्कन्ध-धात्वायतनावरणप्रहीणा आकाशचराः। डै वैहायसगमन इति धातुपाठात्। न सर्व-सत्त्वापकारिण्यो ग्रामदैवत्यः पीठोपपीठाद्याश्रिता इति। ताः सप्तत्रिंशद्बोधिपाक्षिकधर्म-स्वभावविशुद्धास्तन्मयः सर्वदूतीमयः। सहजकायश्चतुर्थः परं सुखमक्षरसुखमित्यर्थः। अनयोर्धर्मकायसहजकाययोरेकत्वं वज्रसत्त्व इत्युच्यते। वज्रमिति धर्मकायः शून्यता प्रज्ञा। सत्त्वमिति सहजकायः करुणोपायः, एवं प्रज्ञोपायात्मको हेरुकसंयोगो वज्रसत्त्वोऽभिधीयते।

(ल० त० टी०, पृ० 55)

वीरवीरेश्वरी

वीराः खण्डकपालिकादयश्चतुर्विंशतिश्चन्द्रचरणाः। वीरैश्वर्यो डाकिन्यादयः सप्त-त्रिंशद्बोधिपाक्षिकधर्मस्वभावाः। (ल० त० टी०, पृ० 45)

षडङ्गयोगः (लोकोत्तरयोगित्वम्)

अत्र लोकोत्तरं योगित्वं षडङ्गयोगेन सिध्यति यथा तथोच्यते षडङ्गयोगः। इह प्रत्याहारो नाम बाह्यरूपादिविषयेष्वप्रवृतिश्चक्षुरादीन्द्रियैश्चक्षुर्विज्ञानादीनाम्। अध्यात्मनि विषयेषु प्रवृत्तिर्दिव्यचक्षुरादीन्द्रियैर्दिव्यचक्षुर्विज्ञानादीनामिति। अध्यात्मनि शून्यतालम्भनेना-कल्पितं सर्वभावदर्शनं शून्ये प्रतिसेनादर्शे कुमारिकाया इवेति प्रत्याहाराङ्गमुच्यते

त्रैधातुकबुद्धबिम्बदर्शनादिति। ततो ध्यानं नाम शून्येषु सर्वधर्मेषु दृष्टेषु सत्सु प्रज्ञा नाम तेषु चित्तप्रवृत्तिः। वितर्को नाम भावग्रहणं चित्तस्य। विचारो नाम भावग्रहणं प्रतिपत्तिः। रतिर्नाम सर्वभावेषु चित्तारोपणम्। अचलसुखं नाम सर्वभावेभ्यः सुखसंपत्तिरिति। एवं पञ्चधा ध्यानाङ्गमुच्यते। ततः प्राणायामो नाम ललना रसना वामदक्षिणमार्गनिरोधः। अवधूती मध्यमार्गे प्राणवायोः सदा प्रवृत्तिरिति। पूरककुम्भकरेचकयोगेनावधूत्याम्। ॐ-कारेणोच्छ्वासम्। हूँकारेण निरोधनम्। आःकारेण निःश्वासनम्। चन्द्रराहुसूर्यस्वभावेन कुरुते योगीति प्राणायामाङ्गमुच्यते। ततो धारणा नाम प्राणस्य माहेन्द्रवारुण्याग्निवायुमण्डले नाभौ हृदि कण्ठे ललाटे प्रवेशो बाह्येऽनिर्गमः। बिन्दौ प्राणनिवेशनमिति धारणाङ्गमुच्यते। ततोऽनुस्मृतिर्नाम स्वेष्टदेवतादर्शनं प्रतिबिम्बाकारं विकल्परहितम्। तस्मादनेकरश्मिस्फुरद्रूपं प्रभामण्डलम्। ततोऽनेकाकारं स्फुरद्रूपं त्रैधातुकस्फुरणमित्यनुस्मृत्यङ्गमुच्यते। ततः समाधिर्नामेष्टदेवतानुरागाद्यदक्षरसुखप्राप्तिस्तस्यामेकीकरणं चित्तस्य ग्राह्यग्राहकरहितं चित्तं समाध्यङ्गमुच्यते तथागतैः। इह षडङ्गयोगोऽत्र संक्षेपेणोक्तः। विस्तरतो लक्षाभिधाने परमादिबुद्धे वा सद्गुरूपदेशेनावगन्तव्यो योगिनां महामुद्रासिद्धय इति। इह षडङ्गस्य पुनरादिमार्गभावनोपदेशस्तन्त्रान्तरेषूक्तः। (ल० त० टी०, पृ० 136-138)

षोडशानन्दाः

एषां प्रत्येकेऽभिषेके चत्वार आनन्दाः। एकैकानन्दे कायवाक्चित्तज्ञानभेदेन चतस्रोऽवस्थाश्चतुर्बिन्दुभेदेनेति। एवं षोडशकलाभेदेन प्रत्येकेऽभिषेके षोडशानन्दाः काय-वाक्चित्तज्ञानबिन्दुभेदेन चत्वारः। तत्र शुक्लपञ्चमी आनन्दः। दशमी परमानन्दः। पूर्णिमा विरमानन्दः। पूर्णिमान्ते षोडशीकला सहजानन्दः। ललाटे हृदये गुह्ये शुक्रागमनेनेति गुह्याद्वज्रमण्यन्तर्गतेन सहजानन्द इति। कृष्णप्रतिपदागमे शुक्रच्युतिः। ततः पञ्चमी आनन्द-क्षयः। दशमी परमानन्दक्षयः। अमावसी विरमानन्दक्षयः। अमावस्यान्ते षोडशीनष्टचन्द्रकला सहजानन्दक्षयः। (ल० त० टी०, पृ० 127)

सप्तत्रिंशद् योगिन्यः (खेचररूपपरिवर्तिन्यः)

इदानीं खेचररूपपरिवर्तिन्य उच्यन्ते—इह कुलिका वज्रवाराही सर्वरूपपरिवर्तिनी। वज्रडाकिनी चातकी, लामा शुकी, खण्डरोहा सारिका, रूपिणी कोकिला, प्रचण्डा लाबी, चण्डाक्षी पारावती, प्रभावती वकी, महानासा चटकी, वीरमती चक्रवाकी, खर्वरी हंसी, लङ्केश्वरी पाजी, द्रुमच्छाया वृक्षारिणी, ऐरावती काकी, महाभैरवा गृध्री, वायुवेगा घूकी,

सुराभक्षी मृगारिणी, श्यामादेवी शिखिनी, सुभद्रा कुक्कुटी, हयकर्णा भेदिनी, खगानना पारी, चक्रवेगा क्रुञ्चा, खण्डरोहा कोकिलाक्षी, शौण्डिनी रजकी, चक्रवर्मिणी भगवती, सुवीरा तित्तिरी, महाबला सारसी, चक्रवर्तिनी जलकाकी, महावीर्या बलाका, काकास्या नीलाक्षी, उलूकास्या चकोरी, श्वानास्या अनिला, शूकरास्या वाग्बुलिका, यमदाढी बुक्की, यमदूती टिट्टिभी, यमदंष्ट्रिणी भेरुण्डी, यममथन्यम्बरकी इति। खेचररूपपरिवर्तिन्यः सप्तत्रिंशद् योगिन्यः। (ल० त० टी०, पृ० 70-71)

समयचतुष्टयम्

अत्र प्रज्ञाचुम्बनेन प्रथमानन्दक्षणो भवति। स च कायसमयः। प्रथमानन्दक्षयात्पद्मे वज्रप्रवेशेन परमानन्दक्षणो भवति। स एव वाक्समयः। परमानन्दक्षयात्पद्मे वज्रस्फालनेन विरमानन्दक्षणो भवति। स एव चित्तसमयः। विरमानन्दक्षयाद् वज्रमणौ बोधिचित्तेनागतेन सहजानन्दक्षणो भवति। स एव ज्ञानसमयश्चतुर्थ उक्तो भगवता। (ल० त० टी०, पृ० 150)

समयचतुष्टयम् (षोडशप्रकारम्)

अत उपायतन्त्रानुमतेन प्रज्ञातन्त्रं बोद्धव्यम्। प्रज्ञातन्त्रानुमतेनोपायतन्त्रं बोद्धव्यं समयविशुद्ध्यर्थं नाड़िकाचक्रविशुद्ध्यर्थमिति। पुनः षोडशसाहस्रिके मायाजाले समयचतुष्टयं षोडशप्रकारं तस्य रक्षणोपायं भगवतोक्तं पूर्वोक्ताभिषेकगाथयाऽत्रैव समयरक्षणे साऽप्येवं वेदितव्या। सर्वाकारनिराकारादेर्वज्रपदस्य नीतार्थः। इह सर्वाकारो निराकारो हेतुः। प्रत्याहारेण यो दृष्टो भावो घटपटादिकः प्रतिसेनातुल्यः प्रतिभासतः। सर्वाकार इति कल्पनाऽपोढोऽभ्रान्तः प्रत्यक्षदर्शनादिति। निराकारः परमाणुधर्मतातीतः कल्पनारहितत्वाद् इति। पिहितापिहितनेत्रगम्यो यतः तस्मान्न रूपं न रूपादन्यो न चक्षुर्गम्यो न चक्षुषा विना। एवं सर्वाकारनिराकारो हेतुः प्रज्ञापारमिता महाशून्यता सर्वाकारवरोपेता। अथवा बुद्धबिम्बं त्रैधातुकमशेषत इति हेतु तदुत्पन्नं फलं परमाक्षरसुखं षोडशार्द्धार्द्धबिन्दुधृङ्महाज्ञानमित्युच्यते तथागतैः। षोडशकलानामर्द्धमष्टौ तदर्धाश्चत्वारो बिन्दवः कायवाक्चित्तज्ञानलक्षणा जाग्रत्-स्वप्नसुषुप्तस्तुर्यावस्थाजनकाः। तान् धारयतीति षोडशार्द्धार्द्धबिन्दुधृक्। समयचतुष्टयपालक इत्यर्थः। वज्रसत्त्वो महारागः। अकल इति शुक्लपञ्चदशकलारहितः। तासामन्ते स्थितः शुक्लपूर्णावसान इति। कलनातीत इति कलना कृष्णप्रतिपत्तस्मिन्न प्रविष्टः कलनाया अतीतः कलनातीतः सहज इत्यर्थः। चतुर्थध्यानकोटिधृगिति। अथ प्रथमानन्दसुखं ध्यानम्, द्वितीयं परमानन्दसुखध्यानम्, तृतीयं विरमानन्दसुखध्यानम्, चतुर्थं सहजानन्दसुखध्यानम्। पञ्चमी-

दशमी-पूर्णिमापूर्णिमान्ते बिन्दौ परमाक्षरसुखध्यानं स्थितं तस्य कोटिरग्रभागः सुखपरिपूर्णता ध्यानकोटिस्तां धरति चतुर्थध्यानकोटिधृगिति भगवतो वचनम्। एवमेतान् षोडशसमयान् पालयेन्नित्यमिति सर्वकालं भावनाबलेनेति। (ल० त० टी०, पृ० 149-150)

समयदूतिकाः

इदानीं स्वरूपपरिवर्तिन्यः समयदूत्य उच्यन्ते—इह वज्रवाराही कुलिका सर्वासां सर्वरूपपरिवर्तिनी। वज्रडाकिनी श्वानी, लामा अश्वी, खण्डरोहा हस्तिनी, रूपिणी गौ, प्रचण्डा मैषी, चण्डाक्षी अजी, प्रभावती हरिणी, महानासा खरी, वीरमती शूकरी, खर्वरी उष्ट्री, लङ्केश्वरी अरण्यश्वानी, द्रुमच्छाया अरण्यसिंहनी, ऐरावती गण्डी, महाभैरवा व्याघ्री, वायुवेगा ऋक्षी, सुराभक्षी नकुली, श्यामादेवी चमरी, सुभद्रा जम्बुकी, हयकर्णा उष्ट्री, खगानना विडाली, चक्रवेगा कुम्भिरी, खण्डरोहा कपर्दिका, शौण्डिनी कर्कटी, चक्रवर्मिणी मत्सी, सुवीरा मकरी, महाबला दर्दुरी, चक्रवर्तिनी कूर्मी, महावीर्या शङ्खिनी, काकास्या गोधी, उलूकास्या मूषकी, श्वानास्या शालिजातकी, शूकरास्या वानरी, यमदाढी घवली, यमदूती सल्लकी, यमदंष्ट्री इषुकी, यममथनी कृकलासी। इति। (ल० त० टी०, पृ० 70)

समयपालनविधिः

समयाः (द्विधा)

इह समया द्विधा बाह्याऽध्यात्मिकाश्चेति। तान् समयान् पालयेत् रक्षयेद् योगी। बाह्या बाह्ये लोकप्रवृत्यर्थम्। आध्यात्मिका अध्यात्मनि ज्ञानप्रवृत्त्यर्थम्। इह बाह्यलोकप्रवृत्त्या पुण्यसंभारो योगिनां भवति बाह्यसमयरक्षणात्। अध्यात्मनि ज्ञानप्रवृत्त्या ज्ञानसंभारो भवति अध्यात्मसमयरक्षणेनेति। अतः समयान् पालयेन्नित्यं साधकः सुसमाहित इति।

इह बाह्याध्यात्मिकाः समया अपरतन्त्रान्तरेण बोद्धव्याः। अत्र श्रीसमाजे सप्तदशमे पटले भगवानाह प्रथमं तावदध्यात्मसमयान्।

(1) अध्यात्मसमयाः

[कायवज्रसमयः]

"तद्यथा—अथ वज्रपाणिः सर्वतथागताधिपतिः सर्वबुद्धकायवज्रसमयं स्वकायवाक्-चित्तवज्रेभ्यो निश्चारयेत्।

समयचतुष्टयं रक्ष्यं बुद्धैर्ज्ञानोदधिप्रभैः ।
महामांसं सदा भक्ष्यमिदं समयमुत्तमम् ॥" इति।

इहानेन समाजोक्तविधिना चक्रसंवरे समयपालनं वेदितव्यम्। तन्त्रं तन्त्रान्तरेण बोद्धव्यमिति तथागतवचनात्। इह सर्वबुद्धकायवज्रसमयस्य नीतार्थः। अत्राध्यात्मनि बोधिचित्तबिन्दुः कायलक्षणो जाग्रदवस्थाजनकः प्रज्ञारागद्रुतः सन् गुह्यकमलागतः। स एव चतुर्विधः कायानन्द-वागानन्द-चित्तानन्द-ज्ञानानन्दभेदेन चतुर्विधो बोधिचित्तकायबिन्दुसमय उच्यते। समयो मेलापकः कायवाक्चित्तज्ञानवज्राणामेकत्वं गुह्ये बोधिचित्तबिन्दुरूपेण। स एव बिन्दुः समयचतुष्टयं रक्षणीयम्। तेन रक्षितेन महामांसं सदा भक्ष्यमिति। महामांसं संस्कारस्कन्धः। स एव भक्षणीयो निरावरणः कर्तव्य इति नीतार्थः। कैर्बुद्धैर्ज्ञानोदधि-प्रभैर्योगिभिर्बुद्धैरिति। एवं वक्ष्यमाणे सर्वत्र समयचतुष्टये नीतार्थोऽवगन्तव्य इति कायवज्रसमय उक्तः।

[वाग्वज्रसमयः]

ततो वाग्वज्रसमय उच्यते। "तद्यथा—अथ वज्रपाणिः सर्वतथागताधिपतिः सर्व-तथागतवाग्वज्रसमयं स्वकायवाक्चित्तवज्रेभ्यो निश्चारयेत्।

समयचतुष्टयं रक्ष्यं वाग्वज्रं महाक्षरैः ।
विण्मूत्रं सदा भक्ष्यमिदं गुह्यं महाद्भुतम् ॥" इति।

अस्यापि नीतार्थ उच्यते। इह बोधिचित्तबिन्दुर्वाग्लक्षणः स्वप्नावस्थाजनकः प्रज्ञा-रागद्रुतः सन् नाभिकमलागतः। स एव चतुर्विधः कायपरमानन्द-वाक्परमानन्द-चित्त-परमानन्द-ज्ञानपरमानन्दभेदेन चतुर्विधो बोधिचित्तवाग्बिन्दुसमय उच्यते। समयो मेलापकः कायवाक्चित्तज्ञानवज्राणामेकत्वं नाभौ बोधिचित्तबिन्दुरूपेण। स एव बिन्दुः समयचतुष्टयं कायपरमानन्दादिकं रक्षणीयं वाग्वज्रं महाक्षरैरिति बोधिचित्ताच्युतसुखक्षणैर्महामुद्रा-क्षरैर्योगिभिः संरक्ष्यमिति। तेन रक्षितेन वाग्वज्रबिन्दुना विण्मूत्रं सदा भक्ष्यमिति रूपस्कन्धो विज्ञानस्कन्धो निरावरणः कर्तव्यो योगिभिरिति तथागतवचनं परमार्थतः। इदं गुह्यं महाद्भुतमिति बालमतीनां योगिनां द्वीन्द्रियसुखाभिलाषिणाम्। इदं परमाक्षरैर्बोधिचित्तरक्षणं महाद्भुतमिति वाग्वज्रबिन्दुसमय उक्तः।

[चित्तबिन्दु(वज्र)समयः]

ततश्चित्तबिन्दु(वज्र)समय उच्यते। "तद्यथा—अथ वज्रपाणिः सर्वतथागताधिपतिरिदं सर्ववज्रधरचित्तवज्रधरसमयं स्वकायवाक्चित्तवज्रेभ्यो निश्चारयेदिति।

समयचतुष्टयं रक्ष्यं वज्रसत्त्वं महर्द्धिकैः ।
रुधिरं शुक्रसंयुक्तं सदा भक्ष्यं दृढव्रतैः ॥'' इति।

अस्यापि नीतार्थ उच्यते। इह बोधिचित्तबिन्दुश्चित्तलक्षणः सुषुप्तावस्थाजनकः प्रज्ञारागद्रुतः सन् हृत्कमलागतः स एव चतुर्विधः कायविरमानन्द-वाग्विरमानन्द-चित्तविरमानन्द-ज्ञानविरमानन्दभेदेन चतुर्विधो बोधिचित्त(चित्त)बिन्दुसमय उच्यते। समयो मेलापकः कायवाक्चित्तज्ञानवज्राणामेकत्वं हृदये बोधिचित्तबिन्दुरूपेण स एव बिन्दुः समयचतुष्टयं कायविरमानन्दादिकं रक्षणीयं वज्रसत्त्वं महर्द्धिकैर्योगिभिस्तृतीयश्चित्तबिन्दुमार्गस्थैः षडङ्गयोगेन तेन समयचतुष्टयेन रक्षितेन रुधिरं शुक्रसंयुक्तं सदा भक्ष्यं दृढव्रतैरिति वेदनास्कन्धः संज्ञास्कन्धो निरावरणः कर्तव्य इति नीतार्थः। सर्वस्मिन् काले दृढव्रतैः कर्ममुद्राप्रसङ्गेऽप्यच्युतशुक्रैर्योगिभिरिति। चित्तवज्रबिन्दुसमय उक्तः। इह त्रिकुलात्मके श्रीसमाजे त्रिबिन्दुसमयो भगवतोक्तः।

[ज्ञानबिन्दुसमयः]

चतुर्ज्ञानबिन्दुसमयस्य प्रत्युद्देशः परमादिबुद्धेश्चतुःकुलात्मके भगवानाह, तद्यथा—

समयचतुष्टयं रक्ष्यं ज्ञानेऽयं मार्गसंस्थितैः ।
गोक्वादिकं सदा भक्ष्यं समयो दुरतिक्रमः ॥ इति।

अस्यापि नीतार्थ उच्यते। इह बोधिचित्तबिन्दुर्ज्ञानलक्षणस्तुर्यावस्थाजनकः प्रज्ञारागद्रुतः सन् कण्ठकमलागतः। स एव चतुर्विधः कायसहजानन्द-वाक्सहजानन्द-चित्तसहजानन्द-ज्ञानसहजानन्दभेदेन चतुर्विधो बोधिचित्तज्ञानबिन्दुः समय उच्यते। समयो मेलापकः कायवाक्चित्तज्ञानवज्राणामेकत्वं कण्ठे बोधिचित्तबिन्दुरूपेण स एव बिन्दुः समयचतुष्टयं कायसहजानन्दादिकं रक्षणीयं ज्ञानेऽयं चतुर्थो बिन्दुमार्गस्थैरिति। शून्यतामार्गो धूमादिकस्तत्स्थैर्मार्गस्थैर्योगिभिरिति। गोक्वादिकं सदा भक्ष्यमिति। गोक्वादिसमयाः अत्र सन्ध्याभाषया गोशब्देन चक्षुः। क्वादिशब्देन श्रोत्रम्। दादिशब्देन घ्राणः। हादिशब्देन जिह्वा। नादिशब्देन कायेन्द्रियम्। छर्दिमक्षिकाशब्देन मनेन्द्रियं वेदितव्यं भक्ष्यम्। एवं निमित्ताभावेन नैमित्तकस्याऽप्यभावः षड्विषया रूपादयः चक्षुर्विज्ञानादीनि षड्विज्ञानानि भक्षणीयानि योगिभिः। एवमष्टादशधातवो भक्षणीया ज्ञानबिन्दुसमयचतुष्टय रक्षिते सति।

[वज्रकायः]

तथाभिषेकाध्येषणाकाले गुरुस्तुतिगाथां शिष्य आह—तन्त्रतन्त्रान्तरेण भगवतोक्तम्, तद्यथा—

मासं रक्तं न ते काये
विण्मूत्रं शुक्रमेव च ।
धातवोऽष्टादशाऽप्येवं
वज्रकाय नमोऽस्तु ते ॥

इत्यादि सर्वमध्यात्मसमयभक्षणं योगिभिरवगन्तव्यमिति।

[समयरक्षणफलम्]

इह समयानां रक्षितानां यत्फलं तच्छ्रीसमाजे भगवानाह—

कायवाक्चित्तवज्राणां समयोऽयं महाद्भुतः ।
शाश्वतः सर्वबुद्धानां संरक्ष्यो वज्रधारिभिः ॥

यश्चेदं समयं रक्षेद् वज्रसत्त्वं महाद्युतिम् ।
कायवाक्चित्तरागात्मा बुद्धो भवति तत्क्षणात् ॥

इति भगवतो नियमः समयरक्षणे।

(2) बाह्यसमयाः

बाह्येषु पुनः समयचतुष्टयं बाह्यदेशकुलव्यवहारेण रक्ष्यं गोप्येन भक्ष्यं तथा योगकाले भक्ष्यं कुलीनैः। रथ्याखर्परधारिभिर्योगिभिः सदा भक्ष्यं लोकव्यवहारवर्जितैरिति। अत्र बाह्यं समयचतुष्टयं पञ्चविधमद्यपानम्, पञ्चविधमांसभक्षणम्, पञ्चविधस्त्रीप्रसङ्गः, पञ्चविधामृतास्वादनमिति। विस्तरेण सप्तत्रिंशद्भेदभिन्नं योगिना ज्ञातव्यं मूलतन्त्रान्तरे लक्षाभिधानादिके भगवतोक्तेति। एवं समया रक्षणीया भक्षणीयाः। सर्वतन्त्रान्तरे लौकिकलोकोत्तरसिद्ध्यर्थमिति भगवतो नियमः। (ल० त० टी०, पृ० 145-149)

समयभेदः (द्विधा)

इह समयभेदो द्विधा बाह्येऽध्यात्मनि वेति। तत्र बाह्ये पञ्चामृतपञ्चप्रदीपास्तेषां भक्षणेन पञ्चवर्णाभिगमनेन मातृभगिन्यादिस्वगोत्रनार्यभिगमनेन यदि भेदो भवति तदा समयभेदस्तेन समयभेदेन लोकावध्यानं भवेद् देशकुलव्यवहारेण लोकावध्यानेन शासने निन्दा भवति। तया आदिकर्मिकाणां पापं भवति। पापप्रभावात् पुण्यहानिः पुण्याभावात् सिद्धित्रयस्य हानिर्भवत्येवं भेदेन समयानां तु नेष्टसिद्धिरवाप्यते योगिभिर्बाह्यसमयभेदेनेति नियमः।

अध्यात्मनि पुनः समयाश्चत्वारो बोधिचित्तबिन्दवः। तेषां भेदेनेति च्यवनेन महासुखहानिर्भवति। महासुखहानेर्विरागः। विरागो नाम पापम्। पापाद् दुःखसम्भव इति। एवं समयभेदेन नेष्टसिद्धिर्महामुद्रासिद्धिरवाप्यते योगिभिरिति। तथा परमादिबुद्धे सेकोद्देशे भगवानाह—

च्युतेर्विरागसंभूतिर्विरागाद्दुःखसम्भवः ।
दुःखाद्धातुक्षयः पुंसां क्षयान्मृत्युरिति स्मृतः ॥ इति।

पुनस्तत्रैव—

न विरागात् परं पापं पुण्यं न सुखतः परम् ।
अतोऽक्षरसुखे चित्तं वेशनीयं सदा नृप ॥ इति।

पुनः समयपरिच्छेदे—

पतिते बोधिचित्तेऽस्मिन् सर्वसिद्धिनिधानके ।
मूर्च्छिते स्कन्धविज्ञाने सिद्धिं प्राप्नोति न व्रती ॥ इति।

एवं सर्वतन्त्रराजे समयभेदनिषेधो बाह्येऽध्यात्मन्यपि भगवतोक्तः। इह यदा बाह्ये देवतानां सौम्यरौद्राणां साधनं कर्तव्यं योगिना तदा तेषां समयाः सेवनीयाः। अन्यथाऽन्यसमये-नान्यक्रियया न सिध्यन्ति साधकानां मृत्युदा भवन्ति तन्त्रोक्तविधिरहितानामिति। अतो बाह्याऽध्यात्मनि समया रक्षणीयाः। यदा बाह्यसमयाः कर्तव्याः सेकादिके दिने अत्यन्तसुगुप्तेन कर्तव्याः पश्चात्कुलपुत्राणां निषेधनीयाः सद्गुरुणा। भिक्षूणां पुनः सेककालेऽपि न देयाश्चीवरधारिणां स्ववाचा गुरुणा सर्वं प्रतिपादनीयम्। अन्यथा गुरोः समयभ्रंशता भवति। तेषां चित्तोत्पादो महायाने कायवाचोश्च संयमो दातव्यः। यथा श्रावकशिक्षा तथा कायेन वचसा पालनीया। इति समयपालना कर्तव्या भिक्षुभिर्न समयसेवा चीवरधारिभिः। चीवरे त्यक्ते सति कायवाक्चित्तकृतेन समयानुष्ठानेन कर्ममुद्रासमर्पणेनाभिषेको भिक्षूणां देयः प्रकटवज्राचार्यपदलाभाय। इति समयभेदेन सिद्धिहानिर्भवतीति नियमः।

(ल० त० टी०, पृ० 157-158)

सम्बुद्धवज्रपर्यङ्कः

सम्बुद्धवज्रपर्यङ्क इति। सम्बुद्धं वज्रं समुत्थितं पर्यङ्कमासनं यस्य बोधिचित्तस्य सम्बुद्धवज्रपर्यङ्को मण्यन्तर्गतकमले संस्थित इत्यर्थः बोधिचित्ताक्षरत्वात्।

(ल० त० टी०, पृ० 128)

सर्वकामार्थसाधकम्

इह बाह्ये नेयार्थेन सर्वकामार्थो लौकिकाणिमादिगुणैश्वर्यमन्त्रकर्मज्ञानमुद्रायोगेन भवति। तस्य साधकं पूर्वोक्तं प्रज्ञाज्ञानमिति। नीतार्थेन सर्वकामो वज्रसत्त्वः सम्यक्-सम्बुद्धस्तस्यार्थः सर्वज्ञतादशबलचतुर्वैशारद्यादिधर्मचक्रप्रवर्तनं तस्य साधकं सर्वकामार्थ-साधकम्। (ल० त० टी०, पृ० 52-53)

संसारः

एवं संसारिणां रागविरागप्रवृत्तिस्तया संसारः। (ल० त० टी०, पृ० 127)

साधनचतुष्टयम् (षडङ्गयोगभावना)

इह श्रीसमाजोत्तरे सेवोपसाधनं साधनं महासाधनं चेति। तदेव भगवानाह—

सेवाकाले महोष्णीषं बिम्बं विभाव्य यत्नतः ।
उपसाधनकाले तु बिम्बं चामृतकुण्डलीम् ॥

साधने देवताबिम्बं भावयेद् योगतत्परः ।
महासाधनकाले तु बिम्बं बुद्धाधिपं विभुम् ॥ इति।

अत्र सन्ध्याभाषान्तरेणोष्णीषबिम्बं बुद्धबिम्बं त्रैधातुकमशेषतः। आकाशे धर्मोदये चित्तवज्रं प्रतिष्ठाप्य सेवाकाले प्रथमकाले प्रत्याहारेण भावयेद् ध्यानाङ्गेन स्थिरीकुर्यादिति। अत्र भगवतः प्रतिज्ञा—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्षयेत् ।
यदि न स्यात् प्रत्ययस्तत्र तदा मे मृषा वचः ॥ इति।

अत्र प्रत्ययो धूमादिकं निमित्तं नान्यन्मन्त्रादिकं दिनेनैकेन साध्यते येन प्रत्ययो भविष्यति मन्त्रिणाम्। अतो अस्तिनास्तिबुद्धिं परित्यज्य निराश्रयां कृत्वा शून्ये गम्भीरो निरालम्बः प्रत्ययो भवति। स च प्रत्ययार्थो धूमादिको भाव्यते योगिनेति तथागतनियमः।

तथा—

करणैर्बन्धसंयोगैः साधयेद् भुवनत्रयम्। इति॥

बुद्धबिम्बं भुवनत्रयं साधयेत् करणैश्चक्षुरादिभिः। स एवोपदेशो गुरुवक्त्रेणाव-गन्तव्यः। तत्र गुरूपदेशनाकाशे प्रथमं योगी धूमं पश्यति न मरीचिकामिति स्वानुभवतो ज्ञेयम्। ततो मरीचिका पश्चात्, तदेव धूमादिकं कल्पनारहितं प्रतिसेनावदिति। एवं प्रथमं

धूमनिमित्तम्। द्वितीयं मरीचिकानिमित्तम्। तृतीयं खद्योतनिमित्तम्। चतुर्थं दीपनिमित्तम्। पञ्चमं निरभ्रगगनसन्निभं निमित्तमिति समाजोत्तरे। डाकिनीवज्रपञ्जरेऽपि भगवतोक्तम्। तदुपरि भगवानाह डाकिनीवज्रपञ्जरे—

सर्वज्ञहेतुकं तद्धि सिद्धिनिकटे निवर्तकम्।
पश्चान्मायोपमाकारं स्वप्नाकारं क्षणात्क्षणम्॥ इत्यादि।

अतो भगवतो वचनादादौ धूमादिनिमित्तभावना प्रत्ययो भवति। केचित्सिद्धिकाले वदिष्यन्ति ते सर्वे भगवतः प्रतिज्ञाभङ्गकारिणः। "सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्षयेत् प्रत्ययमि"ति भगवतो वचनविहेठकाः। यत्सिद्धिकाले लौकिकं धूमादिकं तन्निमित्तं माया-स्वप्नोपमं न भवति। साक्षाद् धूमज्वालादिदहनक्रियासामर्थ्यात्। तथा कुंकुमपुष्परत्न-सुवर्णादिवृष्टिरपि। अतः षडङ्गयोगाद् धूमादिकं निमित्तं भवतीति। तथा डाकिनीवज्रपञ्जरे भगवानाह—

षडङ्गं भावयेत्तस्मात् स्वाधिष्ठानसमं पुनः।
पश्चात् संलक्षयेच्चिह्नमनुलोमविधिक्रमैः॥

इत्यत्र स्वाधिष्ठानं नाम संवृतेः सत्यदर्शनं शून्ये दर्शनं प्रत्याहरेण। चिह्नं नाम मेघधूमादिवत् प्रतिभासः। स च प्रथमं दृश्यते प्रदीपपर्यन्तम्। तत आकाशं निरभ्रं निर्मलमिति। तन्त्रेष्वपरज्वालादिबिन्दुपर्यन्तं षड्धा निमित्तं मायाजाले समाधिजालपटले प्रोक्तं भगवता, तद्यथा—

गगनोद्भवः स्वयम्भूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान्।
वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः॥

जगत्प्रदीपो ज्ञानोल्को महातेजः प्रभास्वरः।
विद्याराजोऽग्रमन्त्रेशो मन्त्रराजो महार्थकृत्॥

इति गाथाद्वयेन मायाजालेऽपरं निमित्तं भगवतोक्तं सन्ध्याभाषान्तरेण पूर्वोक्तान् निर-भ्रगगनाद् भवति प्रतिभासो यः गगनोद्भवः स्वयम्भूः सर्वविकल्परहितचित्तादिति। अत्र प्रज्ञाज्ञानानल इति ज्वालाप्रतिभासः। वैरोचनो महादीप्तिरिति चन्द्रप्रतिभासः। स एव ज्ञानज्योतिर्विरोचन इति। जगत्प्रदीप इति सूर्यप्रतिभासो ज्ञानोल्क इति राहुप्रतिभासः। महातेजः प्रभास्वर इति विद्युत्प्रतिभासः। विद्याराजोऽग्रमन्त्रेश इति बिन्दुप्रतिभासो नीलवर्णचन्द्र-मण्डलाकार इति। मन्त्रराजो महार्थकृदिति सर्वाकारत्रैधातुकभावप्रतिभासो मायास्वप्न-

प्रतिसेनातुल्यो दृश्यते योगिना। प्रत्याहारेणेति चक्षुरादीन्द्रियकरणेन। ततः प्राणायामबन्धेन। एभिः करणैर्बन्धसंयोगैः साधयेद् भुवनत्रयम्। कामरूपार्प्य(पारूप)लक्षणं स्थिरचलस्व-भावात्मकमिति। तथा डाकिनीवज्रपञ्जरे भगवानाह—

सिध्यत्यशेषनिःशेषं त्रैधातुकं चराचरम् ।
लोकधातुषु सर्वेषु यावन्तो वज्रदेहिनः ॥

इति षडङ्गभावनयेति भगवतो नियमः। तथा श्रीसमाजे भगवानाह—

अभावे भावनाभावो भावना नैव भावना ।
इति भावो न भावः स्याद् भावना नोपलभ्यते ॥

इहाभावे निरभ्रगगने भावना प्रत्याहारः। स एवाभावे भावनाभाव इति। भावना नैव भावनेति। इह प्रत्याहारभावना याऽभावे निरभ्रे गगने सा भावना नैव भावना भवति। विकल्प-भावनारहितत्वादिति। भावो यः प्रत्याहारेण दृष्टः स भावो न भावः स्याद् विकल्पितातीता-नागतवर्तमानभावाभावदर्शनादिति। अतो विकल्पभावना नोपलभ्यते प्रत्याहारभावनायामिति भगवतो वाक्यम्। इयं भावना प्रज्ञापारमितायामपि भगवतोक्ता। तद्यथा—अथ खलु शक्रो देवानामिन्द्रायुष्मन्तं सुभूतिमेतदवोचत्। य आर्यसुभूतेऽत्रप्रज्ञापारमितायां योगमाप्स्यते क्व स योगमाप्स्यते। सुभूतिराह—आकाशे स कौशिक योगमाप्स्यते, यः प्रज्ञापारमितायां योग-माप्स्यते। अभ्यवकाशे स कौशिक योगम(प्तुकामो) यः प्रज्ञापारमितायां शिक्षितव्यं मन्स्यत इति। महामुद्राभावना प्रतिसेनामायातुल्या निरभ्रे गगने भगवतोक्तेति। एवं प्रत्याहारेण ध्यानेन सेवाङ्गमुच्यते।

ततोऽमृतकुण्डलीबिम्बसंज्ञया सन्ध्याभाषान्तरेण वायुरुक्तः स च पञ्चप्रकारः। तथा समाजोत्तरे भगवानाह—

पञ्चरत्नमयं श्वासं पञ्चबुद्धैरधिष्ठितम् ।
निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे विभावयेत् ॥ इति।

इह पञ्चरत्नशब्देन रसना पञ्चमण्डलधर्मिणः पृथिव्यादिपञ्चधातवस्तन्मयं श्वासं पञ्चरत्नमयमिति सव्यनासापुटे। तथा पञ्चबुद्धा ललनापञ्चमण्डलधर्मिणो विज्ञानादिपञ्च-स्कन्धास्तैरधिष्ठितं श्वासं वामनासापुट इति। निश्चार्यपिण्डरूपेणेति। इह पिण्डं सव्याव-सव्यमण्डलानामेकत्वं मध्यमायामवधूत्यां प्राणवायोरिति। तच्च प्राणवायुं निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे विभावयेत्। अत्र नासिकाशब्देन नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषकमलकर्णिकोच्यते।

तस्याग्रे भावयेन्नासिकाग्रे भावयेत्। कर्णिकात् कर्णिकामध्ये न सव्यावसव्ये कमलदल इति। एवं बिन्दुस्थाने पिण्डरूपेण निरोधितः प्राणस्तेनैव धारणोच्यते। एवमङ्गद्वयेनोपसाधनममृत-कुण्डलीबिम्बेनेति तदेतदुपसाधनं वज्रजाप इत्युच्यते। मध्यमाऽभिन्नाङ्गेन जप्तव्य इति। प्राणस्य न वामदक्षिणनाड्यां प्रचारेणेति। उष्णीषबिम्बे दृष्टे सति पश्चात्प्राणायामं कुर्यान्मन्त्रीति। गुरूपदेशः सन्ध्याभाषान्तरेणावगन्तव्य इति प्राणायामधारणोपसाधनमुच्यते। ततः साधने देवताबिम्बमिति। इह धारणाबलेन नाभिस्थां चण्डालीं ज्वलितां पश्यति योगी सर्वावरण-रहितां प्रतिसेनोपमां महामुद्रामनन्तबुद्धरश्मिमेघां स्फारयन्तीं प्रभामण्डलविराजितां सानुस्मृतिः साधनमुच्यते। धारणान्ते चण्डालीयोगं भावयेदिति नियमः।

ततस्तस्या ज्ञानार्चिषा स्कन्धधात्वायतनादीनि दग्धान्येकलोलीभवन्ति। वामदक्षिण-नाड़ीगतानि विज्ञानादिपृथिव्यादीनि मण्डलस्वभावानि ललाटे चन्द्रमण्डले प्रविष्टानि। ततश्च चण्डाल्या ज्ञानार्चिषा चन्द्रद्रुते सति यद् बोधिचित्तं बिन्दुरूपेणाधोगतं कण्ठे हृदि नाभौ गुह्यकमले आनन्दपरमविरमस्वभावेन। ततो वज्रमणिं यावत् सहजानन्दस्वभावेनेति। अथवा विचित्र-विपाक-विमर्द-विलक्षणस्वभावेनेति। एवं षोडशकलापूर्णं मण्यन्तर्गतं यदा सुखं ददाति भावनाबलेन च्यवनसुखसदृशमिति दृष्टान्तमात्रम्। स्वरूपतो द्वीन्द्रियजं क्षरसुखं कोटिसहस्रतमीमपि कलां नार्हति परमाक्षरसुखस्येति। इह क्षरसुखावस्था या सहजानन्द-रूपिणी सावस्था काप्यविज्ञेया बालयोगिनाम्। बोधिसत्त्वैः शून्यता समाधिरित्युच्यते। पुनर्लोकरूढ्या नास्तिक्यार्थानुपातिनीति। एवं षडङ्गयोगेन मन्त्रजापेन ध्यानेन सुखेन च योगित्वं योगिनां सिध्यते परमं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम्, जन्मनीहैव साध्यसाधकनियमो भगवतोक्तः। (ल० त० टी०, पृ० 138-143)

सेवादिसमयः

अत्रैव प्रज्ञासङ्गे सेवादिकं भगवता तन्त्रतन्त्रान्तरेषूक्तम्। तथा—

चुम्बनालिङ्गनं सेवा पद्मे वज्रोपसाधनम् ।
साधनं कुलिशास्फालो महासाधनं तत्सुखम् ॥ इति।

एवं बोधिचित्तबिन्दुसमयान् पालयेत् साधकः सुसमाहित इति भगवतो नियमः।

(ल० त० टी०, पृ० 151)

स्वयम्भूः (वैरोचनः)

इह स्वयम्भूर्ब्रह्मा स च कायवज्रो वैरोचनः। कायवज्रधरो ब्रह्मा इत्युक्त-त्वात्तन्त्रान्तरेणावगन्तव्यः। स च तद्यथा मायाजाले भगवानाह—

गगनोद्भवः स्वयम्भूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान् ।
वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः ॥

...स्वयम्भूर्वैरोचनो निर्माणकायः सर्वाकारवरोपेतः। (ल० त० टी०, पृ० 55)

(श्री)हेरुकभगवान्

...तेन वज्रवाराह्याध्येषितेन श्रीहेरुकभगवतेति, आह—

श्रीकारादद्वयं ज्ञानं हेकाराद्धेतुवर्जितम् ।
रुकाराद् रूपनिर्मुक्तं ककारात्कारणोज्झितम् ॥

ऐश्वर्यादिगुणैर्युक्तो भगो वा मारभञ्जनात् ।
स यस्यास्तीत्यसौ प्रोक्तो भगवान् त्रैधातुकेश्वरः ॥ इति।

(ल० त० टी०, पृ० 45)

(श्री)हेरुकसंयोगम्

श्रीरिति सहजानन्दम्। हे इति कर्ममुद्राज्ञानमुद्राहेतुवर्जितम्। रु इति रूपलक्षण-निर्मुक्तम्। क इति चक्षुरादिकरणवर्जितम्। निरालम्बकरुणालक्षणम्। तस्य शून्यतया सहयोगत्वमेकत्वम्। शून्यताकरुणयोरभिन्नत्वं वक्ष्येऽहमिति नेयार्थेन श्रीहेरुकः पुरुषेन्द्रियं तस्य नारीभगेन संयोगं एकत्वं बालजनानां वक्ष्येऽहं द्वीन्द्रियसुखाभिलाषिणां पुण्यसंभारार्थं चित्तस्यापरविषयपरिमोचनार्थमिति। (ल० त० टी०, पृ० 52)

•

सिद्धों का दर्शन एवं साधना

—गेशे येशे थपखे—

[दर्शन शब्द का अर्थ है—साक्षात्कार। जिन सिद्धान्तों का अनुसरण करके साधकों ने परमतत्त्व का साक्षात्कार किया और वे सिद्ध हो गये वही उनका दर्शन है। उन्हीं सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन वज्रयान के ग्रन्थों में हुआ है। क्योंकि वज्रयान के विनेयजन सामान्य विनेयजनों की अपेक्षा तीक्ष्णेन्द्रिय होने से बहुत अधिक संवेदनशील होते हैं। अत: शीघ्र सिद्धि प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं सिद्धान्तों का जैसे—तन्त्रयान के चार प्रकार (क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र) प्रभास्वरता, उत्पत्तिक्रम, सम्पन्नक्रम, त्रिकाय आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।]

सिद्धों का दर्शन

सिद्धों ने जिस मार्ग का अनुष्ठान करके सिद्धि प्राप्त की है, उसका उल्लेख वज्रयान के शास्त्रों में विस्तृत रूप से किया गया है। मैंने इस लेख में उसी को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वज्रयान मुख्यतया उन विनेयजनों के लिए प्रतिपादित है, जो प्रज्ञापारमिता के विनेयजनों की अपेक्षा अति तीक्ष्णेन्द्रिय हैं, उनमें सांसारिक उद्विग्नता एवं प्राणियों के दु:खों के प्रति प्रज्ञापारमिता के विनेयजनों से लाखों गुना अधिक संवेदनशीलता होती है। परार्थ-सिद्धि के अन्यतम साधन बुद्धत्व पद प्राप्त करने के लिए असंख्येय कल्पों तक प्रयत्न करना, वे सहन नहीं कर सकते। ऐसे विनेयजनों के प्रति इस प्रकार का त्वरित मार्ग प्रतिपादित किया गया है।

सामान्य जनों में अतिसूक्ष्म एवं अकृत्रिम प्राणवायु से क्रमश: आगन्तुक स्थूल प्राणवायु का विकास होता है। उससे भ्रान्त विकल्प एवं स्थूल शरीर सम्पन्न होता है। प्राणी यह नहीं सोच पाता कि समस्त वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न है एवं स्वचित्त में स्थित वासना से जनित विज्ञान-मात्र है, अपितु वह उन्हें स्वत: सिद्ध एवं सस्वभाव समझता है। इसलिए सुख-दु:ख आदि वेदनाओं का आधार वह विषयों को समझता है। इसी से तृष्णा, राग एवं द्वेष उत्पन्न होते हैं और हेयोपादेयता के विषय में भ्रान्तिपूर्वक प्रवृत्त होता है। फलत: जन्म-मरण से युक्त दु:खमय संसार में भ्रमण करता रहता है। भ्रमाभास भी स्वविकल्प-जनित है। सुख-दु:ख की विकल्पना हमें दु:ख से निबद्ध करती है। इस तरह व्यक्ति अपने द्वारा निर्मित जाल में स्वयं आबद्ध है। जैसे कुशल चित्रकार स्वनिर्मित भयंकर चित्र को देखकर स्वयं भयभीत हो जाता है अथवा जैसे मायाकार अपने द्वारा निर्मित नारी के सौन्दर्य

पर मुग्ध होकर उसके प्रति स्वयं आसक्त हो जाता है। फलतः इस प्रकार की भववासना सहित समस्त क्लेशों का त्याग कर वज्रधर-पद प्राप्त करने के लिए धर्मकाय एवं रूपकाय दोनों को प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

फल अवस्था में काय की अवस्थिति चित्त से अभिन्न होती है। मार्ग अवस्था में भी धर्मकाय के अनुरूप हेतु अर्थात् धर्मों के प्रपञ्च रहित ज्ञान की तथा रूपकाय के असाधारण हेतु अर्थात् स्वचित्त के तथागत काय के रूप में प्रतिभास की अर्थात् इन दोनों उपायों की भावना अभिन्न रूप से की जाती है, इस तरह शून्यता ज्ञान के ग्राह्य की देवचक्र के रूप में प्रतिभासित होने की भावना की जाती है।

वज्रयान में राग-द्वेष आदि क्लेशों के शमन करने के लिए द्वादश धूतगुण उपाय के रूप में अपनाये नहीं जाते, अपितु शून्यता से अभिन्न महासुख-ज्ञान, जो अनुरूप हेतु अर्थात् कामसुखराग से उत्पन्न है, उसकी भावना से एवं देवचक्र की भावना से इनका शमन किया जाता है। इसी प्रकार जन्म-मरण एवं अन्तराभव के अनुरूप मार्ग का अनुष्ठान करके इनका विनाश किया जाता है।

सामान्य अवस्था में वैभव (ऐश्वर्य) आदि सुख-दुःख के आधार के रूप में देखे जाते हैं, किन्तु भावना के बल से समस्त अभिनिवेशों का त्याग कर देने पर दृष्टि-समरसता की अवस्था प्राप्त होती है। उस अवस्था में सारे प्रतिभास उपाय के रूप में परिणत होकर महासुखमय दिखलाई पड़ते हैं।

सारांश

आत्मग्राह युक्त अतिसूक्ष्म प्राणवायु से नानाविध भ्रान्त विकल्पों की उत्पत्ति होती है। फलतः प्राणी अनादिकाल से जन्म-मरण आदि दुःख-शृंखला से आबद्ध है। योगी गुरु प्रदर्शित विशिष्ट उपायों द्वारा इसी निरंकुश प्राणवायु का जिस मार्ग से वह प्रवाहित हो रही है, उसका अवरोध कर देता है तथा उसके स्थान पर निःस्वभावता पर आधारित अतिसूक्ष्म प्राणवायु को विशिष्ट मार्ग से प्रवाहित करता है। इस मार्ग के अनुष्ठान से वह (योगी) सर्वाधिक भ्रान्त द्वैत विकल्पों से रहित तथा जन्म-मरण आदि नानाविध सांसारिक दुःखों से मुक्त अनुत्तर परम महासुख तथागत-पद को प्राप्त करता है।

तन्त्रयान के पर्याय तथा व्युत्पत्ति

मन्त्रयान, फलयान, वज्रयान, उपाययान, रागचर्यायान तथा गुह्ययान ये छह पर्याय हैं।

मन्त्रयान—मन्त्र का तात्पर्य है मन का त्राण (रक्षण), तत्त्वज्ञान, उपाय से सत्त्वों का त्राण करने वाली करुणा आदि। इस तरह मन्त्र शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है।

फलयान—स्थान, वैभव, लीला तथा काय इन चार की परिशुद्धियाँ फल है। देवविमान इत्यादि के अनुरूप भावना द्वारा उसकी ओर जाया जाता है, अत: यह फलयान है।

वज्रयान—शून्यता ज्ञान से अभिन्न रूप में देव आदि की भावना के योग का उपाय वज्रयान कहलाता है।

उपाययान—प्रज्ञापारमितायान की अपेक्षा श्रेष्ठ कुशल-उपाय से युक्त होने के कारण उपाययान कहा जाता है।

रागचर्यायान—कामगुणों के प्रति आसक्ति या राग आदि को बुद्धत्व प्राप्ति के उपाय के रूप में परिणत किया जाता है। अत: इसे रागचर्यायान भी कहते हैं।

गुह्ययान—अत्यन्त गुप्त रूप से इसकी साधना की जाती है तथा अपात्र को इसका प्रकाशन नहीं किया जाता है, अत: यह गुह्ययान कहलाता है।

उपर्युक्त यानों के अतिरिक्त अन्य सहजयान आदि की पृथक् व्यवस्था नहीं की जाती है, क्योंकि भिन्न यान की व्यवस्था तभी की जा सकती है, जबकि उसका अधिगन्तव्य फल भिन्न हो या मार्ग में कोई विशेष क्रम हो, या अधिगम्य फल तक पहुँचने में क्षिप्रता, मन्दता आदि का कोई भेद हो, या सम्यग्दृष्टि में कोई वैशिष्ट्य हो।

विनेय जनों के तीक्ष्णेन्द्रियत्व, मृद्विन्द्रियत्व आदि के आधार पर भिन्न यानों की व्यवस्था करना उचित प्रतीत नहीं होता, अन्यथा अनेक यानों के होने का प्रसंग होगा।

तन्त्रयान के चार प्रकार

तन्त्रयान चार प्रकार के हैं—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र तथा अनुत्तर योगतन्त्र।

उक्त यानों के प्रवेशार्थी प्रमुख विनेयजन कामधातु के पुद्‌गल होते हैं। वे कामगुणों को मार्ग बनाकर बुद्धत्व प्राप्ति के इच्छुक होते हैं। जैसे—काष्ठ से उत्पन्न कृमि काष्ठ का ही भक्षण करता है, उसी प्रकार रागोत्पन्न मार्ग से राग का क्षय होता है। चारों तन्त्रों में विभिन्न प्रकार से देवयोग और शून्यता के साक्षात्कार की क्षमता है, अत: चार तन्त्रों की व्यवस्था की गई है।

क्रियातन्त्र—कामगुणों को मार्ग के रूप में अपनाने का उपाय शून्यता और देव-योग है। तपोवन का आश्रयण, अभिषेक और मण्डलाभिलेखन, मन्त्रोच्चारण आदि क्रियाओं के अभाव में देवयोग एवं शून्यता के साक्षात्कार में चित्त समाहित नहीं होता, अतः क्रियातन्त्र की व्यवस्था की गई है। अनेक क्रियाओं पर आश्रित होने से यह क्रियातन्त्र कहलाता है।

चर्यातन्त्र—जो बाह्य क्रियाओं पर अत्यधिक निर्भर नहीं होता, अपितु जहाँ बाह्य क्रिया और आन्तरिक समाधि पर समान बल दिया जाता है, उसे चर्यातन्त्र कहते हैं।

योगतन्त्र—जिनमें बाह्य क्रियाओं और चर्याओं पर कम से कम निर्भरता होती है तथा जो आन्तरिक समाधि और योग पर अधिक बल देता है, वह योगतन्त्र कहलाता है।

अनुत्तरतन्त्र—बाह्य क्रियाओं और चर्याओं से पूर्णतः अनपेक्षित रहते हुए जो अनुत्तरयोग के उत्पाद में समर्थ होता है, वह अनुत्तरतन्त्र कहलाता है।

अनुत्तरतन्त्र दो प्रकार का है—पितृतन्त्र और मातृतन्त्र।

(1) **पितृतन्त्र**—विशेष रूप से उपाय एवं सांवृतिक मायाकाय की साधना विधि का प्रतिपादन करने से पितृतन्त्र कहा जाता है।

(2) **मातृतन्त्र**—परार्थ प्रज्ञा, महासुखज्ञान तथा विशेष रूप से प्रभास्वरता का प्रतिपादन करने से मातृतन्त्र कहा जाता है।

प्रभास्वरता

प्रभास्वरता के दो प्रकार हैं—विषय प्रभास्वरता और विषयी प्रभास्वरता। विषय प्रभास्वरता शून्यता है तथा शून्यताज्ञान विषयी-प्रभास्वरता है। विषयी-प्रभास्वरता भी संक्षेपतः तीन भागों में विभक्त है—सामान्य प्रभास्वरता, गुह्यप्रभास्वरता तथा अनुत्तर प्रभास्वरता। इन तीनों का पुनः दो में संग्रह किया जा सकता है—(क) प्रभास्वरोपमता तथा (ख) लाक्षणिक प्रभास्वरता।

मायाकाय

मायाकाय किसे कहते हैं? जैसे च्युति अवस्था में अतिसूक्ष्म वायुरूप उपादान कारण से तथा सहकारी कारण चित्त से पूर्व शरीर से भिन्न अंग-प्रत्यंगों से युक्त एक

अन्तराभव-काय की निष्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार सहज वायुरूपी उपादान कारण से तथा ज्ञानमात्र सहकारी कारण से मुख-नासिका आदि अंग-प्रत्यंगों से युक्त आभासमात्र देवकाय निष्पन्न होता है। यह उपर्युक्त प्रभास्वरोपमता की अवस्था के अन्त में स्वतः आकृष्ट होता है। यह काय बारह उपमाओं या विशेषणों से लक्षित किया जाता है, यथा—माया, उदकचन्द्र, प्रतिभास, मरीचि, स्वप्न, प्रतिश्रुत्क, गन्धर्वनगर, इन्द्रजाल, इन्द्रधनुष, विद्युत्, बुद्बुद् तथा वज्रसत्त्व प्रतिबिम्ब।

उत्पत्तिक्रम

अनुत्तरमार्ग से अनुष्ठान की विधि इस प्रकार है—उत्पत्तिक्रम एवं सम्पन्नक्रम से वज्रधर का पद प्राप्त किया जाता है। उत्पत्तिक्रम, कृत्रिमक्रम तथा कल्पितक्रम ये पर्यायवाची हैं।

सम्पन्नक्रम की अवस्था में आलोक, आलोकाभास तथा आलोकोपलब्धि, इन तीनों से युक्त प्रभास्वरता के पश्चात् प्राण और चित्तमात्र में शुद्धाशुद्ध मायाकाय के साक्षात् उत्थापन की क्षमता होती है।

उत्पत्तिक्रम की अवस्था में इस प्रकार साक्षात् उत्थापन की क्षमता नहीं होती, किन्तु कल्पना द्वारा चन्द्रभानु (आदि) की युगनद्धता की भावना की जाती है। प्रभास्वरता एवं मायाकाय के परिपाक के लिए शून्यता का शोधन करके शून्यता की अधिमुक्ति मात्र से कायोत्थान किया जाता है, अतः इसके लिए कल्पितक्रम, कृत्रिमक्रम आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है।

उत्पत्तिक्रम का असाधारण प्रहेय पृथक्जन का अभिनिवेश है। इसके निरोध के लिए आश्रय एवं आश्रित आभास एवं अहं की भावना की जाती है। इससे ज्ञान के रूप में पृथक्-जनों को अभिनिवेश के निरोध में बल मिलता है। ज्ञान का वह स्वरूप वस्तुतः देव में परिणत नहीं भी हुआ हो फिर भी यदि देव का अकृत्रिम अभिमान उत्पन्न हो सके तो उत्पत्तिक्रम का प्रयोजन सिद्ध है।

उत्पत्तिक्रम की अवस्था में मुख्यतः देवचक्र के प्रतिभास की भावना की जाती है, शून्यता की भावना नहीं की जाती, अतः इस अवस्था में दो आवरणों में से किसी का भी प्रतिपक्ष उत्पन्न नहीं होता, फलतः मोक्ष तथा बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रधानतया यह भावना नहीं है—इस प्रकार की शंका हो सकती है।

समाधान

सामान्यतया उत्पत्ति का अर्थ प्रधानतया देवचक्र का परतः प्रस्फुरण करना है। अतः यह रूपकाय का प्रधान हेतु होता है।

'क्रम' का अर्थ प्रधान रूप से अन्तर्धान या विलीन करना है। अतः यह धर्मकाय का प्रधान हेतु है। तथापि उत्पत्तिक्रम एवं सम्पन्नक्रम दोनों ही अवस्था में धर्मकाय तथा रूपकाय का हेतु प्रज्ञा एवं उपाय की युगनद्धता की भावना ही है।

उत्पत्तिक्रम की अवस्था में देवचक्र आदि की भावना के पूर्व निश्चय ही शून्यता की भावना करनी चाहिए। स्वयं देव के उत्पाद के लिए सर्वप्रथम स्वयं के शून्यता की भावना की जाती है। बलि (भोज्य पदार्थ) के उत्पाद के लिए भी सर्वप्रथम उसका शून्यता से शोधन करना पड़ता है। शून्यता अर्थात् तिलक से 'बीज' अर्थात् नाम के प्रथम अक्षर को अलंकृत करके बलि का उत्पाद किया जाता है। नाम के प्रथम बीजाक्षर इस बात के प्रतीक हैं कि प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म नाममात्रता के रूप में सिद्ध हैं, जिससे शून्यता की स्मृति बनी रहे।

'तिलक' का अर्थ शून्यता से है। अतः यह भावना प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यता के एकीकृत रूप से उत्पत्ति का द्योतक है।

सारांश

जिसमें देवचक्र के आभास की भावना की प्रमुखता है, उस उत्पत्तिक्रम की अवस्था में साधक समस्त धर्मों की निःस्वभावता के निश्चय के बल से प्रेरित होकर माया की भाँति देवचक्र के दर्शनार्थ उसके उत्थापन में कौशल प्राप्त करता है। देवचक्र की भावना के पश्चात् उसको आलम्बन बनाकर उसके निःस्वभावताकार को जानने वाले ज्ञान का ग्राह्याकार आश्रय-आश्रित देव के रूप में प्रतिभासित होता है। इस अद्वय, गम्भीर एवं उदार योग-मार्ग की प्रत्येक अवस्था में इसी क्रम से भावना करनी चाहिए।

उत्पत्तिक्रमयोगेन प्रपञ्चं भावयेद् व्रती ।
प्रपञ्चं स्वप्नवत् कृत्वा प्रपञ्चैर्निष्प्रपञ्चयेत् ॥ (हे० तं० 2.2.29)

अतः महासुख और शून्यता का अभेद ज्ञान ही देवमण्डलच्छन्द है। फलतः उत्पत्तिक्रम का योग मोक्ष का हेतु है।

सम्पन्नक्रम

सम्पन्नक्रम, अकल्पितक्रम, अकृत्रिमक्रम तथा योगक्रम आदि पर्यायवाची हैं। उत्पत्तिक्रम की अवस्था में उपाय तथा देवच्छन्द मात्र की भावना की जाती है। परन्तु सम्पन्नक्रम की अवस्था में इससे भिन्न देवकाय के सम्पन्न उपाय अर्थात् प्राणवायु तथा बिन्दु आदि का योग भी, जो मनःकल्पित नहीं हैं, उन सब उपायों से शून्यता का साक्षात्कार करके तदनन्तर देवकाय के रूप में उत्थान होता है। यह भी मनःकृत (कल्पित) नहीं है। अर्थात् यह उपाय वस्तुसत् है। अतः सम्पन्नक्रम आदि की संज्ञा दी गई है।

सामान्यतः सम्पन्नक्रम की अवस्था में प्रधानतया धर्मकाय के हेतु की भावना की जाती है। क्योंकि विशेषोपाय से अर्थात् स्वशरीर में मर्माघात की भावना के बल से वायु का अवधूती में प्रवेश, स्थिति तथा विलय किया जाता है। इससे महासुख तथा शून्य से अभिन्न प्रभास्वरता मुख्य रूप से सम्पन्न होती है।

शून्यता से अभिन्न आनन्द का तात्पर्य प्राणवायु का अवधूती में प्रवेश, स्थिति तथा विलय—इन तीन क्रियाओं के द्वारा इस अवस्था के साधक को सहजानन्द विषयक असाधारण ज्ञान होता है।

लाक्षणिक प्रभास्वरता की अवस्था में उस (आनन्द एवं शून्यता का अभेद) देव में सहजानन्द तथा शून्यता ज्ञान दोनों की जल में जल के विलय की तरह समरसता, अभिन्नता एवं युगनद्धता-योग साक्षात् रूप से होता है। इससे पूर्व केवल कल्पना मात्र द्वारा भावना की जाती है। यथा सरह की उक्ति है—

घरे-घरे कहिअअ सोज्झु कहाणो, णउ परिआणिअ महासुह ट्ठाणो ॥
सरह भणइ जग चित्तें वाहिउ, सोवि अचिन्त ण केणवि गाहिउ ॥

(दोहाकोश, श्लोक-128, पृ०-28)

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि शून्यता ज्ञान ही में क्लेशों के ससंस्कार (वासना सहित) अशेष प्रहाण का बल विद्यमान है, तो फिर इस ज्ञान के सहज आनन्द रूप में उत्पाद (योग) की क्या आवश्यकता है?

स्थूल विषयी ज्ञान द्वारा शून्यता के साक्षात्कार मात्र से आत्मग्राह का प्रहाण अशक्य है। अतिसूक्ष्म विषयी सहजानन्द से जब शून्यता का साक्षात्कार होता है, तब उस

महासुख से अभिन्न शून्यताज्ञान द्वारा ससंस्कार क्लेशों का अशेष प्रहाण अत्यन्त झटिति सम्पन्न होता है। इस प्रकार की क्षमता अन्य मार्गों में नहीं है। अतः वह शून्यता ज्ञान देवज्ञान के रूप में उत्पत्ति के लिए एक ओर बाह्य मुद्रा का आश्रय लेता है तथा दूसरी ओर नाड़ी, प्राण, बिन्दु एवं मर्मवेध आदि आन्तरिक उपायों का आश्रय लेता है। इस तरह उपाय दो प्रकार के हैं। ललना तथा रसना में प्रवाहित प्राणवायु का अवधूती में विलय किया जाता है। इस प्रकार प्राणवायु के अवधूती में प्रवेश की विधि के उपाय सिद्धों में अलग-अलग बतलाये गये हैं, जो निम्नलिखित प्रकार से हैं—

1. कालचक्र के साधक नाभि-चक्र में कुम्भक के द्वारा प्राणवायु की भावना करते हैं।
2. डोम्बिपा, कृष्णपा, नारोपा तथा उनके अनुयायी नाभिचक्र में चण्डाली की भावना करते हैं।
3. लूइपा और उनके अनुयायी 'हूँ' अक्षर की भावना करते हैं।
4. घण्टापा और उनके अनुयायी हृदयचक्र में अवधूती के उच्चतर शिखर से निम्नतम चक्र तक मर्मवेध की भावना करते हैं।
5. कुकुरिपा-हृदयचक्र में वज्रजप के बल से अवधूती में प्राणवायु को प्रवृत्त करते हैं।
6. नागार्जुन-निम्नस्थित चक्र तथा हृदय-चक्र में अवधूती के मर्मवेध की भावना के पक्षपाती हैं।

घरे-घरे कहिअइ सोझ कहानो, ना परिजानिय महासुख थानो ॥
सरह भनै जग चित्ते बहेउ, सोउ अचिन्त न कोउ गहेउ ॥

(दोहाकोश, श्लोक-128, पृ०-29)

घरे-घरे कहिअइ सोज्झु कहाणा, णउ परिसुणिअइ महासुह ठाणा ॥
सरह भणइ जग चित्तें वाहिअ, सो अचित्त णउ केणवि गाहिअअ ॥

(दोहाकोश, श्लोक-94, पृ०-69)

इससे नाभिचक्र में चण्डाली प्रज्ज्वलित हो जाती है। फलतः बोधिचित्त रूपी शुक्र के पिघलने से उसके स्राव से सम्पूर्ण शरीर आप्लावित हो जाता है। इस प्रकार महासुख

एवं शून्यता का योग ही क्लेशावरण का समूल नाशक है और सारे उपदेशों का मर्म भी यही है। यथा—

खाअन्तें-पीबन्तें सुरअ रमन्ते, आलि-उल बहलहो चक्क फरन्ते ॥
एवहि सिद्धि जाइ परलोअह, माथे पाअ देइ भुअलोअह ॥

(दोहाकोश, श्लोक-48, पृष्ठ-12)

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि-ससि णाहि पवेस ॥
तहिं बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस ॥

(दो० को०, श्लोक-49, पृष्ठ-12)

इस प्रकार अनुत्तरतन्त्र में सहज प्रभास्वर आनन्द की भावना की जाती है। अत: यह यद्यपि धर्मकाय का सजातीय हेतु है, तथापि यह रूपकाय का सजातीय उपादान हेतु है। अत: उपर्युक्त प्रभास्वरता के द्वारा प्राणवायु तथा चित्त से शुद्धाशुद्ध मायाकाय सम्पन्न होता है।

शास्ता के समय तथा उसके पश्चात् भी तन्त्रयान दीर्घकाल तक अत्यन्त गुह्य विषय रहा है। इसलिए उनके अनुयायियों में दीर्घकाल तक यह विवाद का विषय रहा है कि सामान्यतया महायान और विशेषत: तन्त्रयान बुद्धवचन है कि नहीं। इन्हें बुद्धवचन स्वीकार करने में वे लोग हिचकिचाते रहे हैं। इतिहास के आधार पर समाधान हो सकना अति कठिन ही नहीं, बल्कि असम्यक्-सा प्रतीत होता है।

तन्त्रयान के प्रतिपाद्य विषयों पर विचार करें तो मालूम होगा कि हीनयान और पारमितायान के मार्गों को स्वीकार करते हुए और उन्हें आधार मानते हुए उनमें कुछेक सोपपत्तिक विशिष्ट उपयोगों को जोड़ दिया गया है। इस प्रकार शासन की निर्दोषता से शास्ता भी निर्दोष सिद्ध होते हैं। फलत: सन्देह बुद्धि त्यागकर दृढ़ निश्चय के साथ तन्त्रोक्त उपायों के अनुष्ठान से हमें अपना श्रेय सिद्ध करने का प्रयास करना चाहिए।

यह सबको विदित है कि अन्य यानों में से तन्त्रयान अनुत्तरयान है। यही वास्तविक स्थिति भी है। तथापि उपाय-कुशल तथागत ने नाना आशय, धातु एवं गोत्र वाले विनेयजनों पर अनुग्रह करके विविध यानों की देशना की है। इन यानों में हीन तथा उत्तम का बिल्कुल अन्तर नहीं है। अन्तर केवल विनेयजनों में है। वस्तुत: अनुत्तरयान तो एकमात्र यान है।

जैसा औषधि की हीनता और उत्तमता रोग की अपेक्षा से होती है, वैसे ही यान की उत्तमता और हीनता विनेयजनों के आशय के अनुसार समझना चाहिए। अतः विनेयजनों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुकूल मार्गों का अनुष्ठान करना चाहिए, न कि अनुत्तरयान में प्रमादपूर्वक कामगुणों के भोग तथा देवयोग के अभिमान से विनय आदि की उपेक्षा करनी चाहिए।

इसी अभिप्राय से तथागत ने साधारण विनेयजनों की दृष्टि से भिक्षु रूप में तन्त्रयान का अत्यन्त गुह्य रूप से प्रचार किया, जिससे बुद्ध का यह शासन दीर्घकाल तक रह सके। देश-विदेश के अधिकांश आचार्यों ने भी इसी चर्या को अपनाया है। अतः हमें भी इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

सिद्धों की साधना

त्रिकाय के आधार

मृत्यु के अन्तिम क्षणों में प्रतिभासित होने वाला शून्य स्वभाव हेतुभूत धर्मकाय, तत्पश्चात् प्राप्त अन्तराभव, जिसका शरीर सूक्ष्म वायु द्वारा सम्पन्न होता है, हेतुभूत सम्भोगकाय, तत्पश्चात् मातृगर्भ में स्थूल शरीर का प्रादुर्भाव निर्माणकाय कहा जाता है। इस प्रकार के त्रिकाय की सिद्धि सामान्यतः कर्म विपाक के अधीन अनिवार्य रूप से होती रहती है, परन्तु योगी इनका अपने योग बल से मार्ग के रूप में उपयोग करते हैं, परिणामस्वरूप बुद्ध के त्रिकाय की सिद्धि होती है। इसके लिए युगनद्ध मार्ग की साधना अर्थात् मायाकाय एवं प्रभास्वरता की युगनद्ध साधना अपेक्षित होती है।

यह तो स्पष्ट है कि वस्तु-अवस्था के त्रिकाय या हेतुगत त्रिकाय का प्रत्यक्षीकरण कर्म विपाक द्वारा होता है, परन्तु मार्गगत त्रिकाय के प्रत्यक्षीकरण के लिए विशेष साधना की अपेक्षा होती है। निर्माणकाय का लाभ संभोगकाय की अपेक्षा से होता है और संभोगकाय के लिए धर्मकाय अनिवार्य होता है। यही स्थिति वस्तु, मार्ग और फल सभी अवस्थाओं पर लागू होती है। इस प्रसंग में हेतुगत त्रिकाय कैसे प्राप्त होता है, इसकी यहाँ संक्षेप से चर्चा की जा रही है।

हेतुगत धर्मकाय

आमतौर पर सामान्य मनुष्य, जो छह शारीरिक तत्त्वों से सम्पन्न है, मरते समय अनेक प्रकार की अवस्थाओं से गुजरता है। वह इस प्रकार है—च्युति काल में सर्वप्रथम

पृथ्वी धातु अप् धातु में विलीन होती है, उस समय बाह्य लक्षण के रूप में शरीर शिथिल होने लगता है और आन्तरिक लक्षण मृगमरीचि आदि का आभास होने लगता है। अप् धातु के अग्नि धातु में विलीन होते समय बाह्य रूप से मुख सूखने लगता है। आन्तरिक लक्षण के रूप में धूमाभास की प्रतीति होने लगती है। अग्निधातु का वायुधातु में विलय होते समय बाह्य लक्षण शरीर की उष्णता समाप्त हो जाती है। आन्तरिक लक्षण खद्योत के उद्‌गम का आभास होने लगता है। इसी प्रकार संकल्प-वाहक वायुधातु के आलोक में विलीन होते समय बाह्य लक्षण श्वास-प्रश्वास की गति अवरुद्ध हो जाती है। आन्तरिक लक्षण बुझते हुए दीपक के लौ की भाँति प्रतीति होने लगती है।

'विलीन' का अर्थ यह है कि जब पृथ्वीधातु विज्ञान के आश्रय होने की अपनी क्षमता समाप्त कर लेती है, तब अप् धातु में विज्ञान के उत्पाद की क्षमता बढ़ जाती है, मानों पहले की क्षमता दूसरे में च्युत हो गई हो। तब कहा जाता है कि पृथ्वीधातु अप् धातु में विलीन हो गई है।

चार महाभूतों के विलीन होने के पश्चात् कल्पना-वाहक वायु आलोक में विलीन हो जाती है। उस समय स्थूल वायु विज्ञान का आश्रय बने रहने में असमर्थ हो जाती है। इस अवस्था में पिता से प्राप्त अप्-स्वरूप शुभ्र बिन्दु उतर कर हृदयस्थल में अवस्थित ललना-रसना के छह आवर्तों से ग्रथित चक्र तक पहुँच जाता है। तब शरत्कालीन श्यामिका रहित निरभ्र रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश से व्याप्त, स्वच्छ एवं शून्य आकाश में शुभ्र आलोक प्रतिभासित होने लगता है। इसे 'शुभ्र-पथ आलोक' कहा जाता है।

इसके बाद आलोक भी आलोकाभास में विलीन होने लगता है। उस समय माँ से प्राप्त अग्निस्वरूप रक्त-बिन्दु ऊपर की ओर बढ़कर हृदयस्थल के ललना-रसना निर्मित षडावर्तित चक्र के नीचे तक पहुँच जाता है। इस अवस्था में चन्द्रिका के प्रकाश से व्याप्त शरत्कालीन स्वच्छ और शून्य आकाश पहले की अपेक्षा और भी अधिक शुभ्र एवं रक्त पीत-आभास से युक्त प्रतिभासित होने लगता है। यह 'आलोकाभास रक्त-पथ' कहलाता है।

आलोकाभास का आलोकोपलब्धि में विलय होते समय ललना एवं रसना की सारी वायु हृदयचक्र में अवस्थित अवधूती में एकत्र हो जाती है। इसके वेग से ललना तथा रसना की ग्रन्थि खुल जाती है। ऊपर के शुभ्र बिन्दु और नीचे के रक्त बिन्दु हृदयचक्र की

अवधूती के मध्य में स्थित कर्णिका के रक्त-शुभ्र बिन्दु से जुड़ जाते हैं। इस अवस्था में शरत्कालीन स्वच्छ आकाश में घनीभूत अन्धकार के क्रमशः फैलते जाने जैसा आभास होने लगता है। तब जो आगन्तुक स्थूल विकल्पना है, वह भी प्राण सहित अवरुद्ध हो जाती है। फिर भी आभास का प्रतिभास तब तक बना रहता है जब तक आधार रूप में अवस्थित आदि से ही अतिसूक्ष्म चित्त अपनी अचेत अवस्था से जागृत नहीं हो जाता। इसे—'कृष्णपथ उपलब्धि' कहते हैं।

उपलब्धि का प्रभास्वर में विलय होता है। इस अवस्था में उपर्युक्त रक्त-शुभ्र बिन्दु का अशिथिल रक्त-शुभ्र बिन्दु में विलय होता है। इसके पश्चात् अवधूती की सारी वायु अतिसूक्ष्म प्राणवायु में विलीन होने लगती है। इससे आगन्तुक समस्त प्राणवायु अवरुद्ध हो जाती है। इस अवस्था में आधारभूत आदितः विद्यमान अति सूक्ष्म प्राणवायु के अधिगम का प्रतिभास होने लगता है। तब स्थूल द्वयाभास लेशमात्र भी नहीं रह जाता है। इस अवस्था में रवि-शशि तथा अन्धकार इन तीनों कारणों से रहित शारदीय प्रभातकालीन आकाश अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित रहता है। इस अवस्था का अत्यन्त स्वच्छ शून्याभास साक्षात् शून्यता ज्ञान के समान प्रतिभासित होता है। इसे 'सर्वशून्य प्रभास्वरता' कहते हैं। सर्वशून्य प्रभास्वरता, च्युति प्रभास्वरता और आधारभूत धर्मकाय—ये पर्यायवाची हैं। कुछ पृथक्-जन इस अवस्था में कई दिन तक रहते हैं। किन्तु योगी योगबल से प्रभास्वरता को शून्यताधिगत धर्मकाय से मिलाकर भावना करता है। तब मातृ-प्रभास्वरता अर्थात् सर्वशून्य प्रभास्वरता एवं पुत्र-प्रभास्वरता अर्थात् शून्यताधिगत धर्मकाय दोनों की विलीनता में अनिश्चित काल तक रह जाता है।

उपर्युक्त क्रमशः प्रथम का द्वितीय में विलय होने का तात्पर्य यह है कि प्रथम की विज्ञानाश्रय क्षमता नष्ट होकर द्वितीय की वह क्षमता स्पष्टतः बढ़ने लगती है। इसमें वर्ण हीन आकाश एवं चन्द्रप्रभा आदि जो हैं, इनका तात्पर्य वास्तविक आकाश आदि से नहीं है। वरन् पृथक्-जन की च्युति अवस्था में प्राणवायु के क्रमशः सूक्ष्म होते समय तदनुरूप आभास की प्रतीति होना है। इसी प्रकार जो शून्य का वर्णन आया है, इसका तात्पर्य भी वास्तविक शून्यता से नहीं है, अपितु शून्यता सदृश आभास का प्रतिभास होना है।

संभोगकाय का आधार

योगी च्युति प्रभास्वरता की अवस्था में स्वेच्छया शून्यता में समाहित रह सकता है। उस अवस्था में कुछ कम्पन का आभास होता है। जिससे उसका प्रभास्वरता में उत्थान

होता है और अतिसूक्ष्म प्राणवायु हृदयचक्र के श्वेत-रक्त धातु तिलक से निकल कर पुराने शरीर को छोड़ देती है। तदनन्तर अन्तराभव का शरीर सम्पन्न होता है। इस अवस्था में च्युति प्रभास्वरता के अतिसूक्ष्म प्राणवायु के द्वारा जिस गति और योनि में जन्म होगा, उसी के अनुरूप आकार वाले अन्तराभव के शरीर का आविर्भाव होता है। क्योंकि पूर्व भव के शरीर से पृथग्भूत अतिसूक्ष्म प्राणवायु अन्तराभव का उपादान होती है, जो समस्त वासना का आधार होती है। इस अवस्था में पूर्वोक्त आलोक, आलोकाभास तथा आलोक-उपलब्धि का क्रम उलट कर आलोकोपलब्धि, आलोकाभास तथा आलोक इस प्रकार हो जाता है। स्थूल संकल्पों से युक्त वायु योनि, जन्म, स्थान तथा गन्ध आदि की खोज के लिए दौड़ने लगता है।

स्थूल महाभौतिक शरीर से रहित वायु मात्र से सम्पन्न अतिसूक्ष्म अन्तराभव शरीर ही हेतुभूत सम्भोगकाय कहा जाता है।

निर्माणकाय का आधार

पूर्व भव के स्थूल शरीर को छोड़ने की अवस्था में च्युति-प्रभास्वरता आदि जो पहले अनेक लक्षण कहे गये हैं, वे सब अन्तराभव शरीर को छोड़ते समय अत्यल्प काल में घटित होते हैं। उसी प्रभास्वरता का सजातीय विज्ञान शुक्र और शोणित के मिश्रण के मध्य प्रतिसन्धि ग्रहण करता है। उसी समय जन्म से वृद्धि, वृद्धि से आभास तथा उससे संकल्पों की वाहक प्राणवायु आदि निष्पन्न होते हैं। वह प्राणवायु विज्ञान के उत्पाद की क्षमता वाले वायु के रूप में परिणत हो जाती है। उस विज्ञान के उत्पाद की क्षमता वाले वायु से पृथ्वी धातु, उससे तेजस् धातु आदि क्रमशः उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर सम्पन्न होता है। अतः इस जन्म ग्रहण की अवस्था को आधारभूत निर्माणकाय कहा जाता है।

सारांश

उत्पत्तिक्रम की अवस्था में आधार अवस्था के जन्म-मरण तथा अन्तराभव—इन अवस्थाओं को अभ्यास का आधार बनाया जाता है तथा उसी के अनुरूप आकारों की भावना करके परम्परागत त्रिकाय प्राप्त किया जाता है।

मायाकाय की सम्पन्नता के लिए स्थूल तथा सूक्ष्म इन दोनों शरीरों को अलग करने की क्षमता होना आवश्यक है। इसके उपाय के तीन प्रकार हैं—

1. कर्मवश च्युति अवस्था में जो-जो अलग किया जाता है, उसका वर्णन उपर्युक्त जैसा ही है।

2. ऊर्ध्वस्रोतस् विज्ञान अर्थात् योगबल से स्वविज्ञान का परकाय में प्रवेश किया जाता है।

3. वज्रजप आदि विशिष्ट उपायों के द्वारा भी पृथक्करण होता है, जो सम्पन्नक्रम की अवस्था में बताया गया है।

सम्पन्नक्रम की अवस्था में बाह्यमुद्रा, आन्तरिक योग एवं मर्माघात आदि विशिष्ट उपायों के बल से अतिसूक्ष्म प्राणवायु के द्वारा पृथक्-जन की च्युति अवस्था के तीन धर्मों का अवरोध किया जाता है। उसी के अनुरूप प्रभास्वरोपमता, लाक्षणिक प्रभास्वरता एवं शुद्धाशुद्ध मायाकाय प्राप्त किये जाते हैं।

च्युति आदि तीन अवस्थाओं को लौह धातु के समान समझना चाहिए। लौह को स्वर्ण धातु में परिवर्तित करने वाले पारसमणि के समान उत्पत्ति और सम्पन्न दो क्रम हैं। इससे रत्न की भाँति त्रिकाय की प्राप्ति होती है।

•

महाचार्य आर्य नागार्जुन द्वारा विरचित

त्रिकायस्तोत्र

—ङ्गलछेन नमडोल—

[सूत्रमार्ग एवं तन्त्रमार्ग दोनों के परिपूर्ण अनुष्ठान पर आश्रित फलरूपी बुद्ध के कायों में दो से लेकर पाँच भेदों तक की व्यवस्था शास्त्रों में उपलब्ध होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य नागार्जुन ने स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकाय इन दोनों का धर्मकाय में संकलन कर सम्भोग और निर्माणकाय के साथ क्रमश: तीन कायों का श्रद्धा और आदर के साथ नमन एवं स्तुति की है। साथ ही, इस कार्य से प्राप्त पुण्यों का 'समस्त प्राणियों को कायत्रय की प्राप्ति हो'—इसके लिए प्रणिधान और परिणामना द्वारा अपनी इस कृति को अलङ्कृत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक वृत्ति प्राप्त हुई है। उसके बारे में समस्त तन्ग्युर सूचियों में आचार्य नागार्जुन की कृति के रूप में उल्लेख मिलता है, किन्तु मूल ग्रन्थ और वृत्ति के अन्त:साक्ष्य के आधार पर ऐसा उल्लेख समीचीन प्रतीत नहीं होता। इस विषय पर ग्रन्थ के संक्षिप्त परिचय में सुस्पष्ट प्रकाश डाला गया है।

चतु:श्लोकात्मक इस ग्रन्थ के मुख्य अभिधेय तीन कायों के प्रतिपादक प्रथम तीन श्लोक तो सौभाग्य से मूल संस्कृत में उपलब्ध हो गये, किन्तु अन्तिम चतुर्थ श्लोक प्राप्त नहीं हुआ, अत: उसका भोटभाषा से संस्कृत में पुनरुद्धार किया गया। साथ ही, पूरे ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद, सम्पादन एवं संक्षिप्त परिचय आदि कार्य सम्पन्न कर प्रस्तुत किया जा रहा है।]

སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཞབས་ཀྱིས་མཛད་པའི་

སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ།

(क) मूल भोट-पाठ

(ཟབ་ཅིང་རྒྱ་ཆེ་བའི་མདོ་སྔགས་ཀྱི་ལམ་གྱི་ཉམས་ལེན་མཐའ་དག་ལ་བསྒོམ་པ་རབ་ཀྱི་མཐར་ཕྱིན་པ་ལ་བརྟེན་ནས་མཐར་ཐོབ་པའི་བླ་ན་མེད་པའི་འབྲས་བུ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྐུ་ལ་དབྱེ་སྒོ་མང་ཡང་། སྐབས་སུ་བབས་པའི་གཞུང་འདིའི་བསྟན་དོན་ལྟར་སྐུ་གསུམ་ལས། དང་པོ་ཆོས་སྐུ་ལ་སྡུད་ངས་པའི་ཆར་གྱུར་པ་ངོ་བོ་ཉིད་སྐུ་དང་། རྟོགས་པའི་ཆ་ཟག་མེད་ཀྱི་ཡེ་ཤེས་བཅས་ཆོས་སྐུ་གཉིས་ཡོད། དེ་གཉིས་སངས་རྒྱས་ནང་པན་ཚུན་ཁོ་ནའི་མངོན་སུམ་གྱི་སྤྱོད་ཡུལ་ཡིན་པས་རང་དོན་ཆོས་སྐུ་ཞེས་གསུངས་ཤིང་། དེ་ལ་ངོ་བོ་ཉིད་སྐུ་ནི་བློ་བུར་གྱི་དྲི་མ་མཐའ་དག་སྤངས་པའི་སྤངས་པ་ངོ་བོ་ཉིད་སྐུ་དང་། རང་བཞིན་གནས་རིགས་སུ་འཇོག་རྒྱུའི་སེམས་སྟེང་གི་སྟོང་ཉིད་དེ་ཉིད་གནས་འགྱུར་མཐར་ཕྱིན་པའི་ཚེ་སངས་

རྒྱས་ཀྱི་ཐུགས་རྣམ་མཁྱེན་གྱི་སྙིང་གི་སྟོང་ཉིད་དུ་སོང་བའི་རང་བཞིན་རྣམ་དག་གི་ཆ་སྟེ། དེ་འདྲའི་དག་པ་གཉིས་ལྡན་གྱི་
ཆོས་སྐུ་དེ་ལ་བྱ། རྟོགས་པ་ཡེ་ཤེས་ཆོས་སྐུ་ནི་ཤེས་བྱ་ཇི་ལྟ་བ་དང་ཇི་སྙེད་པ་མཐའ་དག་མངོན་སུམ་དུ་གཟིགས་པའི་ཀུན་
མཁྱེན་ཡེ་ཤེས་དེ་ཡིན། དེ་ལ་ལྡོག་ཆའི་སྒོ་ནས་རྒྱས་པར་ཕྱེ་ན་ཟག་མེད་ཡེ་ཤེས་སྤྱི་ཚན་ཉེར་གཅིག་དང་། འབྲིང་དུ་ཕྱེ་ན་མེ་
ལོང་ལྟ་བུའི་ཡེ་ཤེས་སོགས་ཡེ་ཤེས་ལྔ་དང་། བསྡུས་ན་ཇི་ལྟ་ཇི་སྙེད་མཁྱེན་པའི་ཡེ་ཤེས་གཉིས་ཡོད།

གཉིས་པ་ལོངས་སྤྱོད་རྫོགས་པའི་སྐུ་ནི། གནས་ངེས་པ་སོགས་ངེས་པ་ལྔ་དང་ལྡན་པའི་གཟུགས་སྐུ་མཐར་
ཐུག་སྟེ། མཆོག་གི་སྤྲུལ་སྐུའི་སྤྲུལ་གཞི་དེ་ལ་བྱ་ཞིང་། བདེན་པ་མངོན་སུམ་དུ་རྟོགས་པའི་ཐེག་ཆེན་འཕགས་པ་པོ་ནའི་སྤྱོད་
ཡུལ་དུ་གྱུར་པ་ཞིག་ལ་བྱ། གསུམ་པ་སྤྲུལ་པའི་སྐུ་ནི། གདུལ་བྱ་སོ་སྐྱེ་ལས་དག་ཡན་གྱིས་མཐོང་བར་ནུས་ཤིང་ངེས་པ་ལྔ་
དང་མི་ལྡན་པའི་གཟུགས་སྐུ་ཞིག་ལ་བྱ། དེ་ལ་དབྱེ་ན་མཆོག་གི་སྤྲུལ་སྐུ་དང་། བཟོ་བོ་སྤྲུལ་སྐུ་དང་། སྐྱེ་བ་སྤྲུལ་སྐུ་བཅས་
གསུམ་ཡོད། སྤྱིར་སྐུ་གསུམ་ལས་ཕྱི་མ་གཉིས་གདུལ་བྱ་གཞན་གྱི་སྤྱོད་ཡུལ་དུ་གྱུར་པའི་ཆ་ནས་གཞན་དོན་གཟུགས་སྐུ་
ཞེས་བརྗོད་དོ།།

སྤྱིར་སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྐུའི་དབྱེ་ཚུལ་ལ། རིན་ཆེན་ཕྲེང་བ་དང་། རིགས་པ་དྲུག་ཅུ་པར་གསུངས་པ་བཞིན་ཆོས་
གཟུགས་ཀྱི་དམ་པ་སྐུ་གཉིས་དང་། རྒྱུད་བླ་མར་གསུངས་པ་བཞིན་རང་དོན་དོན་དམ་པའི་སྐུ་དང་། གཞན་དོན་ཀུན་རྫོབ་ཀྱི་
སྐུ་གཉིས་དང་། མདོ་སྡེ་རྒྱན་དུ་ལོངས་སྐུ་རང་དོན་དང་། སྤྲུལ་སྐུ་གཞན་དོན་ལ་སྦྱར་ནས་ངོ་བོ་ཉིད་སྐུ་དེ་གཉིས་ཀྱི་རྟེན་དུ་
བྱས་ནས་སྐུ་གསུམ་དང་། ཡང་འཕགས་པ་ཐོགས་མེད་ཀྱི་ཐེག་བསྡུས་སུ་ “ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཁྱད་པར་ཇི་ལྟར་བལྟ་བར་བྱ་ཞེ་ན།
སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྐུ་གསུམ་པོ་ངོ་བོ་ཉིད་དང་། ལོངས་སྤྱོད་རྫོགས་པ་དང་། སྤྲུལ་པའི་སྐུས་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཁྱད་པར་དུ་ལྟ་བར་
བྱའོ།” །ཞེས་གསུངས་པ་ལྟར་དང་། མངོན་རྟོགས་རྒྱན་དུ་གཟུགས་སྐུ་གཉིས་དང་། ངོ་བོ་ཉིད་སྐུ་དང་ཡེ་ཤེས་ཆོས་སྐུ་སོ་
སོར་བྱས་ནས་སྐུ་བཞིར་གསུངས་ཡོད། གཞུང་འདིའི་འགྲེལ་མཛད་འཕགས་སེང་རྗེས་འབྲངས་དང་བཅས་པའི་དབར་སྐུ་
གསུམ་དང་བཞིའི་འཇོག་ཚུལ་ལམ་བཞེད་ཚུལ་ལ་ཁྱད་པར་ཅི་ཆེ་ཡོད། འཇམ་དཔལ་མཚན་བརྗོད་དུ། སངས་རྒྱས་སྐུ་ལྔའི་
བདག་ཉིད་ཅན། །ཞེས་གསུངས་པ་ལྟར་གྱི་སྐུ་ལྔའི་འཇོག་ཚུལ་ལ་ཡང་མི་འདྲ་བ་མང་བས་མ་སྤྲོས་སོ། །གྲགས་ཆེ་བའི་
དབང་དུ་བྱས་ན་ཆོས་ལོངས་སྤྲུལ་གསུམ་མམ་ཆོས་གཟུགས་ཀྱི་སྐུ་གཉིས་སུ་དབྱེ་བར་བྱེད་དོ།།

སྐབས་སུ་བབས་པའི་གཞུང་འདིར་རྒྱལ་བ་རྣམས་ཀྱི་སྤངས་རྟོགས་མཐར་ཕྱིན་ཅིང་བདག་གཞན་གྱི་ཕན་པ་
ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཆེན་པོའི་གཞིར་གྱུར་པ། སྒྲིབ་གཉིས་ཀྱི་སྐྱོན་གྱིས་གོས་པ་མེད་ཅིང་། གཅིག་ཏུ་མི་འགྱུར་ཞིང་། ཞི་བ་
དང་སྤྲོས་པ་མེད་པ་སོགས་ཀྱི་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པའི་ཆོས་སྐུ་དང་། རྒྱུ་ཚོགས་གཉིས་བསམ་གྱིས་མི་ཁྱབ་པ་ལེགས་མཛད་
བརྒྱ་ཡི་འབྲས་བུ་མཐར་ཐུག་པ། བློ་ཅན་རྒྱལ་སྲས་འཕགས་པའི་འཁོར་ཚོགས་རྣམས་ལ་དམ་པའི་ཆོས་ཀྱི་དགའ་སྟོན་

རབ་ཏུ་འབྱེད་པའི་ལོངས་སྤྱོད་རྫོགས་པའི་སྐུ་དང་། སོ་སྐྱེ་དང་ཉན་རང་སོགས་ཀྱི་སྤྱོད་ཡུལ་དུ་གྱུར་ཅིང་དེ་དག་སྨིན་པའི་ཕྱིར་སོ་སྐྱེའི་མཛད་པ་ནས་མཆོག་གི་སྤྲུལ་སྐུའི་མཛད་པའི་བར་ཐབས་ཚུལ་རྒྱ་ཆེན་སྣ་ཚོགས་ཀྱི་སྒོ་ནས་སྲིད་པ་གསུམ་གྱི་འཇིགས་པ་མཐའ་དག་སེལ་བར་མཛད་པའི་སྤྲུལ་སྐུ་དོན་ཆེན་བཅས་དེ་གསུམ་ལ་རིམ་བཞིན་སློབ་དཔོན་གྱིས་གུས་པ་ཆེན་པོས་བསྟོད་ཕྱག་དང་བསྔོ་སྨོན་གྱིས་མཐའ་བརྒྱན་པར་མཛད་དེ་གསུངས་ཡོད།

ཟབ་བརླིང་གྲགས་ཅན་གྱི་བསྟོད་པ་ཁྱད་པར་ཅན་འདི་ལ་བསྟན་འགྱུར་བསྟོད་ཚོགས་ཁག་ནང་འགྲེལ་པ་ཞིག་ཡོད་པ་དེའི་སྐོར་ལ་བཀའ་བསྟན་གྱི་དཀར་ཆག་ཁག་ཏུ་སློབ་དཔོན་ཉིད་ཀྱིས་མཛད་པའི་རང་འགྲེལ་ཡིན་སྐོར་གསལ་ཡོད་ཀྱང་། དེ་ལ་བརྟགས་ཞིང་དཔྱད་སྐབས། འགྲེལ་པ་དེའི་དབུར་ "བདག་ཉིད་ཆེན་པོ་སྐུ་གསུམ་གྱི། །བསྟོད་པ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པ། །གཞན་གྱི་གསོལ་བས་བསྐུལ་བས་ན། །ཇི་ལྟར་བཀོད་པ་རྣམ་པར་དབྱེ།" །ཞེས་དང་། ཡང་འགྲེལ་པ་དེའི་ཞབས་ལ་ "དེ་ལྟ་བུའི་སྤྲུལ་སྐུ་གང་ཡིན་དེ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ་ཞེས་སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་གསུངས་པ་ཡིན་ནོ།" །ཞེས་གསལ་བའི་ཚིག་སྦྱོར་འདི་དག་ལ་བརྟགས་ན་འགྲེལ་པ་དེ་སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ལས་གཞན་པའི་མཁས་པ་ཞིག་གིས་མཛད་པ་གདོན་མི་ཟ་ཞིང་། སྤྱིར་འགྲོ་དོན་ཆེ་བའི་དགོས་པ་སོགས་ལ་དམིགས་ནས་སློབ་དཔོན་གྱི་མཚན་བཀོད་པ་མང་ཡང་། འདི་ནི་དེ་ལྟར་དུ་ཡང་མི་མངོན་ཏེ། འགྲེལ་པ་དེའི་མཐར་ "སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ་ཞེས་བྱ་བའི་འགྲེལ་པ་རྫོགས་སོ།" །ཞེས་བཀོད་ཡོད་པས། འདིར་སློབ་དཔོན་གྱི་མཚན་གཞུང་རྩ་བ་ 'སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ' ཅེས་པ་དང་ལྷན་དུ་སྦྱོར་དགོས་པ་ལས་འགྲེལ་པ་མཛད་པ་པོའི་ཚུལ་དུ་སྦྱོར་བ་འཐད་པར་མི་སྣང་བས་ཞིབ་ཏུ་དཔྱད་འཚལ། ཡང་བསྟོད་པ་འདིའི་སྐོར་ལ་དུས་ཕྱིས་ཀྱི་རྒྱ་གར་གྱི་མཁས་པ་ཨཱནནྡ་ནརེནྡྲ་དེ་བ་ཞེས་པས་མཛད་པའི་ "ཛོཏྣ་རཏྣ་དཱིཔ" སྟེ "ནང་ཆོས་དང་ལྷ་གྲུབ" ཅེས་པའི་དེབ་ཆེན་དེའི་ནང་སྐུ་གསུམ་གྱི་སྐོར་བསྟན་པའི་ཚེ་ཚིགས་བཅད་དང་པོ་གཉིས་ལུང་འདྲེན་མཛད་པ་དང་སྤྲུགས་བསྟོད་པ་འདིའི་སྐོར་ལ་སྡེབ་སྦྱོར་ཕྲེང་འཛིན་ཅན་གྱི་ཚིགས་བཅད་བཅུ་དྲུག་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་ཡོད་སྐོར་དང་། དེ་ཡང་ཤཱཧི་ཡཱན་ གྱིས་རྒྱ་མིའི་ཡི་གེའི་ཐོག་བཀོད་ཡོད་སྐོར་དང་། ཚིགས་བཅད་དང་པོ་བཅུ་གཉིས་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་རྒྱ་ཡིག་ནང་ཡོད་ཅིང་། དེ་དག་ལས་ཆོས་སྐུ་དང་ལོངས་སྐུའི་སྐོར་གཉིས་འདིར་ལུང་འདྲེན་མཛད་ཡོད་ཅིང་། འགའ་ཞིག་གིས་བསྟོད་པ་དེ་སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱི་ཡིན་པར་ངེས་སུ་དཔོག་པར་བྱེད་ཅེས་ཀྱང་བཀོད་ཡོད་པས་ཞིབ་ཏུ་དཔྱད་དགོས་པར་མངོན་ནོ།།

གཞུང་ཚིག་འདི་དག་གི་སྐོར་ལ་ལྟགས་གཞུང་མང་པོར་སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་སྐུ་གསུམ་དུ་མ་ཟད་བདེ་བ་ཆེན་པོའི་སྐུ་བཅས་སྐུ་བཞིའི་མཚན་ཉིད་རིམ་པ་བཞིན་སྟོན་པའི་ཚིགས་བཅད་བཞི་དགུས་གཅིག་ཏུ་གསུངས་ཡོད་སྐོར་གསལ་ཡོད། དེ་ཡང་དཔལ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་རྒྱུད་ཕྱི་མར། "གང་ཞིག་སྐུ་ཡི་མཚན་ཉིད་འདིར་ནི་སངས་རྒྱས་པ་ཡི་

སློབ་དཔོན་ཀླུ་ཡིས་གང་གསུངས་པ། །གང་ཞིག་གཅིག་མིན་དུ་མ་མ་ཡིན་”ཞེས་སོགས་ཚིགས་བཅད་བཞི་རིམ་བཞིན་བཀོད་ཡོད། དེ་ལ་གཞི་མཛད་ནས་དཔལ་ནཱ་རོ་པ་ཞབས་ཀྱི་དབང་མདོར་བསྟན་གྱི་འགྲེལ་པར། “འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་ཞབས་ཀྱིས་ཀྱང་རྒྱུད་ཕྱི་མར་གསུངས་པ།” ཞེས་སོགས་གསུངས་པའི་སྒོ་ནས་“སྐུ་རྣམས་ཀྱི་ནི་མཚན་ཉིད་གང་དེ་འདིར་ནི་བདེ་བར་གཤེགས་དང་འཕགས་པ་ཀླུས་བོད་ཀྱི་ཀྱང་སྟེ། །གང་ཞིག་གཅིག་མིན་”ཞེས་སོགས་ཚིགས་བཅད་བཞི་བཀོད་ཡོད། དེ་བཞིན་དུ་སློབ་དཔོན་ཉི་མའི་དཔལ་ཡེ་ཤེས་ཀྱིས་མཛད་པའི་མཚན་བརྗོད་ཀྱི་འགྲེལ་པ་མདོར་བཤད་བདུད་རྩིའི་ཐིག་པར། “འཕགས་པ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱི་ཞལ་སྔ་ནས་ཀྱང་། གང་ཞིག་གཅིག་མིན་དུ་མ་མ་ཡིན་ཞེས་པ་ལ་སོགས་པས་ཆོས་སྐུའི་མཚན་ཉིད་དང་།” ཞེས་སོགས་ནས། “འཇིག་རྟེན་གསུམ་གྱི་ཀུན་སྤྱོད་ལས་གྲོལ་ཞེས་པ་ལ་སོགས་པས་བདེ་བ་ཆེན་པོའི་སྐུའི་མཚན་ཉིད་གསུངས་སོ།” །ཞེས་ཚིགས་བཅད་བཞི་རིམ་ཅན་དུ་སློབ་དཔོན་གྱིས་གསུངས་ཡོད་སྐོར་གསལ་ཡོད། དེ་བཞིན་དུ་འགོས་ལོའི་དེབ་སྔོན་གྱི་མཆོད་བརྗོད་དུ་ཡང་བཀོད་ཡོད། དེས་ན་སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ་བསྔོ་སྨོན་བཅས་གསལ་བའི་ཚིགས་བཅད་བཞི་ཅན་ཞིག་དང་། ཡང་བདེ་བ་ཆེན་པོའི་སྐུ་བཅས་སྐུ་བཞི་ལ་བརྟེན་པའི་ཚིགས་བཅད་བཞི་བྱས་པ་ཞིག་དང་། ཡང་གོང་སྨོས་ལྟར་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་ཚིགས་བཅད་བཅུ་དྲུག་བྱས་པ་ཞིག་ཀྱང་ཡོད་ཚོད་འདུག་པས་དཔྱད་གཞི་ཆེ་བའི་གནས་ཤིན་ཏུ་མང་ངོ་།།

ལྷག་པར་དུ་བཀའ་འགྱུར་ནང་བཞུགས་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་རྒྱུད་ཕྱི་མ་རྒྱུད་ཀྱི་སྙིང་པོ་ཞེས་པ་འདི་བཀའ་འགྱུར་དཔར་མ་ཁག་དཀར་ཆག་དང་བཅས་པ་ཚང་མའི་ནང་སངས་རྒྱས་ཀྱི་བཀའ་ཡིན་པ་ལ་དོགས་པ་གཏན་ནས་མེད་པ་ལྟར་དུ་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། དེ་དངོས་དོན་ལ་གནས་ན་སངས་རྒྱས་ཉིད་ཀྱི་གསུང་ནང་སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱི་མཚན་སྨོས་དང་འབྲེལ་དེའི་བརྩམས་གཞུང་ཁུངས་བཀོད་མཛད་པ་དེ་འདྲ་ཇི་ལྟར་ཡིན་བློ་ཡུལ་དུ་ཆུད་དཀའ་བས། དེ་ནི་གོང་སྨོས་དཔལ་ནཱ་རོ་པ་ཞབས་ཀྱིས་གསུངས་པ་ལྟར་“འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་ཞབས་ཀྱིས་ཀྱང་རྒྱུད་ཕྱི་མར་གསུངས་པ་”ཞེས་གསལ་བ་དོན་ལ་གནས་པས། སྐབས་འདིའི་འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་ཞེས་པ་ཕལ་ཆེར་རིགས་ལྡན་འཇམ་དཔལ་གྲགས་པ་ལ་དགོངས་སམ་སྙམ་པས། ཕྲ་ཞིང་མཛངས་ལ་རྒྱ་ཆེ་བའི་རྣམ་དཔྱོད་དང་ལྡན་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཞིབ་ཏུ་དཔྱད་འཚལ་ལོ།།

གཞུང་འདི་ཕ་རན་སིའི་མཁས་པ་ Sylvain Lévi ཞེས་པ་ཞིག་གིས་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་བསྒྱུར་གསོ་དང་། ཡང་ Baron A. Von Steal-Holstein ཞེས་པ་ཞིག་གིས་ཀྱང་ཉམས་ཞིབ་དང་འབྲེལ་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་ཡོད་པའི་གསལ་ཁ་དཔེ་ཐོའི་དཀར་ཆག་ཁག་སོགས་སུ་གསལ་ཡོད་པས། དེ་དག་གི་སྐོར་ལ་ཡང་ཞིབ་ཚད་དགོས་གལ་ཆེ་ཡང་ད་ལམ་འདིར་དེ་ཙམ་ལས་མ་སྤྲོས་སོ།།

གཞུང་འདིའི་ཚིགས་བཅད་དང་པོ་གསུམ་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་སློབ་དཔོན་ནཱཥ་ནྟཱས་མཛད་པའི་བདེ་མཆོག་ཉུང་ངུའི་རྒྱུད་འགྲེལ་དང་། དཔལ་ནཱ་རོ་པའི་དབང་མདོར་བསྟན་གྱི་འགྲེལ་པ་དང་། འགོས་ལོའི་དེབ་ཐེར་སྔོན་པོ་བཅས་སུ་བཀོད་ཡོད། སྔ་མ་གཉིས་སུ་ལུང་འདྲེན་གྱི་ཚུལ་དུ་དང་། ཕྱི་མར་གཞུང་གི་དབུར་མཆོད་བརྗོད་ཀྱི་ཚུལ་དུ་ཚིག་བར་ཉེར་གཅིག་ཙམ་དུ་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། ཚིགས་བཅད་བཞི་པ་བསྔོ་སྨོན་གྱི་སྐོར་གསལ་བ་དེ་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་རྙེད་སོན་མ་བྱུང་། གོང་སྨོས་དེ་དག་གི་ལེགས་སྦྱར་མ་དཔེར་ཁྱད་པར་ཕྲན་བུ་ཡོད་ཀྱང་བོད་འགྱུར་ལྟ་དབར་ཁྱད་པར་ཧ་ཅང་ཆེན་པོ་ཡོད། ད་ལམ་འདིར་ལེགས་སྦྱར་གྱི་མ་དཔེ་རྙེད་སོན་བྱུང་བ་རྣམས་བོད་འགྱུར་དབར་འདྲ་བསྡུར་བསྒྱུར་ཞིབ་དང་འབྲེལ། ཚིགས་བཅད་བཞི་པ་བསྔོ་སྨོན་གྱི་སྐོར་གསལ་བ་དེ་ཉམས་གསོ་བྱས་ནས་གཞུང་ཆ་ཚང་ཧིན་སྐད་ཐོག་པབ་བསྒྱུར་དང་འབྲེལ། གླེང་བརྗོད་མདོར་བསྡུས་དང་ལྷན་དུ་ ཧྲཱིཿ དུས་དེབ་ ༣༨ པའི་ནང་སྤར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་དགོངས།།)

༄༅། །རྒྱ་གར་སྐད་དུ། ཀཱཡཏྲ[1]ཡ་སྟོ་ཏྲ་ནཱམ། བོད་སྐད་དུ། སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ་ཞེས་བྱ་བ[2]། འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་གཞོན་ནུར་གྱུར་པ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།།

གཅིག་མིན་དུ་མ་མ་ཡིན་བདག་དང་གཞན་ལ་་
ཕན་པ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་ཆེན་གཞིར་གྱུར་པ།།
དངོས་མིན་དངོས་པོ་མེད་པ་མ་ཡིན་མཁའ་ལྟར་་
རོ་གཅིག་རྟོགས་པར་དཀའ་བའི་རང་བཞིན་ཅན།།
གོས་པ་མེད་ཅིང་མི་འགྱུར་ཞི་ལ་མི་མཉམ་་
མཉམ་པ་ཁྱབ་པ་ཅན་ཏེ་སྤྲོས་མེད་པ།།
སོ་སོ་རང་རིག་རྒྱལ་བ་རྣམས་ཀྱི་ཆོས་སྐུ་་
དཔེ་མེད་གང་ཡིན་དེ་ལ་བདག་ཕྱག་འཚལ།། ༡ །།
རང་གི་འཁོར་པ་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་བསམ་གྱིས་་
མི་ཁྱབ་ལེགས་མཛད་བརྒྱ་ཡི་འབྲས་བུ་ནི།།

༡ ཀཱ ཡ ཏྲི

༢ སྡེ་དགེ་དང་གསེར་བྲིས་གཉིས་སུ ‘ཞེས་བྱ་བ’ ཅེས་པ་གསལ་མེད།

བློ་ཅན་རྣམས་ཀྱི་དགའ་བ་བསྐྱེད་ཕྱིར་འཁོར་གྱི།
ནང་དུ་སྣ་ཚོགས་རྒྱས་པར་སྟོན་མཛད་ཅིང་།།
རྟག་ཏུ་དམ་པའི་[1]ཆོས་ཀྱི་སྒྲ་སྐད་རྒྱ་ཆེན།
འཇིག་རྟེན་ཀུན་དུ་འགྲོ་བར་མཛད་པ་པོ།།
སངས་རྒྱས་ལོངས་སྤྱོད་རྫོགས་སྐུ་ཆོས་ཀྱི་རྒྱལ་སྲིད།
གནས་པ་གང་ཡིན་དེ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།། ༢ །།

སེམས་ཅན་རྣམས་ནི་སྨིན་པར་མཛད་ཕྱིར་ལ་ལ།
དག་ཏུ་མེ་འབར་བཞིན་དུ་གང་སྣང་ཞིང་།།
ལ་ལར་ཡང་[2]ནི་རྫོགས་པར་བྱང་ཆུབ་ཆོས་ཀྱི།
འཁོར་ལོ་རབ་ཏུ་ཞི་བར་གང་སྣང་ལ།།
སྣ་ཚོགས་ཐབས་ཚུལ་རྣམས་ཀྱིས་[3]རྣམ་པ་དུ་མར།
འཇུག་ཅིང་སྲིད་པ་གསུམ་གྱི་འཇིགས་སེལ་བ།།
ཕྱོགས་བཅུར་ཁྱབ་[4]མཛད་ཐུབ་པ་རྣམས་ཀྱི་སྤྲུལ་སྐུ།

---

༡ སྣ། པེ། གསེར་ཕྲིས། – དམ་པ

༢ སྣ། པེ། གསེར་ཕྲིས། ལ་ལ་རུ་ནི།

༣ སྡེ་དགེ་དང་ཅོ་ནེ་གཉིས་སུ་ "ཐབས་ཚུལ་རྣམ་པ་དུ་མར་" ཞེས་གསལ་ཡང་། སྣར་ཐང་སོགས་སུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད་པ་འཐད་ཆེ་སྟེ། སྔ་མར་ཚིག་བར་ ༡༧ ལས་མེད་པས་ཚིག་རྐང་མ་སྙོམས་པའི་སྐྱོན་ཡོད།

༤ སྡེ་དགེ་སོགས་པར་མ་ལྟ་ཀའི་ནང་ "ཕྱོགས་བཅུར་ཆུབ་མཛད་" ཅེས་གསལ་ཡང་། ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཙ་ཚིག་དང་། གཞུང་དོན་གྱི་འགྲོས་ལ་བརྟགས་ན་བདེ་མཆོག་རྒྱུད་འགྲེལ་དུ་བསྒྲངས་པ་ལྟར་ "ཕྱོགས་བཅུ་ཀུན་དུ་གཤེགས་པ་" ཞེས་པ་དང་། འགོས་ལོའི་དེབ་སྔོན་གྱི་དབུར་བཀོད་པ་ལྟར་ "ཕྱོགས་བཅུ་རྣམས་སུ་རྗེས་སུ་སོན་པ་" ཞེས་སོགས་གསལ་བ་གོ་རྒྱུ་བཟང་ཞིང་། ལེགས་སྦྱར་གྱི་སྐད་དོད་དངོས་ནི་འགྲེལ་པར་

དོན་ཆེན་གང་ཡིན་དེ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།། ༣ ||

སེམས་ཅན་དོན་གཅིག་རྒྱུན་དུ་མཛད་ཅིང་བསོད་ནམས་
ཡེ་ཤེས་ཆེན་པོ་དཔག་མེད་ལས་བྱུང་བའི།།
བདེ་བར་གཤེགས་པ་རྣམས་ཀྱི་སྐུ་གསུམ་ཡིད་དང་
ཚིག་གི་ལམ་ལས་རབ་ཏུ་འདས་པ་ལ།།
བདག་གིས་[༡] དད་པས་ཕྱག་བྱས་དགེ་བ་བྱང་ཆུབ་
ས་བོན་བསགས་པར་གྱུར་པ་གང་ཡིན་དེས།།
སྐུ་གསུམ་ཐོབ་ནས་འགྲོ་བ་འདི་དག་མ་ལུས་
བྱང་ཆུབ་ལམ་ལ་ངེས་པར་འཇུད་[༢] པར་ཤོག།[༣] ༤ ||

སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ་ཞེས་བྱ་བ་སློབ་དཔོན་འཕགས་པ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པ་རྫོགས་སོ།།[༤] རྒྱ་གར་གྱི་མཁན་པོ་ཀྲྀཥྞ་པཎྜི་ཏ་དང་། ལོ་ཙཱ་བ་དགེ་སློང་ཚུལ་ཁྲིམས་རྒྱལ་བས་བསྒྱུར་ཅིང་ཞུས་ཏེ་གཏན་ལ་ཕབ་པའོ།། ||

•••

གསལ་བ་ལྟར་ "ཕྱོགས་བཅུ་པོ་རྣམས་སུ་རྗེས་སུ་ཁྱབ་པའོ།" །ཞེས་པ་ལྟར་གྱི་ཁྱབ་པའི་དོན་དེ་འཐད་ཆེ་བར་མངོན་ནོ།།

༡ སྣ། པེ། གསེར་བྲིས། བདག་གི

༢ སྣ། པེ། གསེར་བྲིས། འཇུག་པར

༣ ཚིགས་བཅད་མཐའ་མ་འདི་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་དངོས་སུ་རྙེད་སོན་མ་བྱུང་བས་བོད་འགྱུར་ལ་གཞི་བྱས་ནས་ཉམས་གསོ་བྱས་སོ།།

༤ བསྟན་འགྱུར་ནང་བཞུགས་འགྲེལ་པ་དེ་གཞུང་འདིའི་རང་འགྲེལ་ཡིན་མིན་ལ་དོགས་གཞི་ཆེ་བས། དེའི་སྐོར་གྱི་གསལ་ཁ་ངོ་སྤྲོད་ནང་བཀོད་ཡོད།།

आर्यनागार्जुनविरचितम्

त्रिकायस्तोत्रम्

(ख) संस्कृत-पाठः

यो नैको नाऽप्यनेकः स्वपरहितमहासम्पदाधारभूतो
नैवाभावो न भावः खमिव समरसो दुर्विभावस्वभावः ।
निर्लेपं निर्विकारं शिवमसमसमं व्यापिनं निष्प्रपञ्चं
वन्दे प्रत्यात्मवेद्यं तमहमनुपमं धर्मकायं जिनानाम् ॥ 1 ॥

लोकातीतामचिन्त्यां सुकृतशतफलामात्मनो यो विभूतिं
पर्षन्मध्ये विचित्रां प्रथयति महतीं धीमतां प्रीतिहेतोः ।
बुद्धानां सर्वलोकप्रसृतमविरतोदारसद्धर्मघोषं
वन्दे संभोगकायं तमहमिह महाधर्मराज्यप्रतिष्ठम् ॥ 2 ॥

सत्त्वानां पाकहेतोः क्वचिदनलमिवाभाति यो दीप्यमानः
सम्बोधौ धर्मचक्रे क्वचिदपि च पुनर्दृश्यते यः प्रशान्तः ।
नैकाकारप्रवृत्तं त्रिभवभयहरं विश्वरूपैरुपायै-
र्वन्दे निर्माणकायं दशदिगनुगतं तं महार्थं मुनीनाम् ॥ 3 ॥

[नित्यं सत्त्वार्थहेतोरपरिमितमहाज्ञानपुण्योद्गतस्य
यो बुद्धस्य त्रिकायो भवति स च मनोवागतीतस्वभावः ।
सश्रद्धं वन्दितो मे ह्यधिगतसुकृतं बोधिबीजस्वरूपं
तल्लब्ध्वा वै त्रिकायं जगदिदमखिलं बोधिमार्गीकरोमि]॥ 4 ॥

॥ महाचार्येण आर्यनागार्जुनपादेन प्रणीतं त्रिकायस्तोत्रं समाप्तम्॥

•

महाचार्य आर्य नागार्जुन द्वारा विरचित

त्रिकायस्तोत्र

(ग) हिन्दी भाषा में अनुवाद

भारतीय भाषा में—**त्रिकायस्तोत्र**

भोट भाषा में—**कु-सुम्-ला-ब्स्तोद्-पा-शेस्-जा-वा**

आर्य मञ्जुश्रीकुमारभूत को नमस्कार

(जो स्वभावत:) न एक है और न अनेक है और (जो) स्वहित-महासम्पद् और परहित-महासम्पद् का आधार है। (जो) न अभावस्वरूप है और न भावस्वरूप, आकाश के समान समरस (एकरस) है तथा जिसका स्वभाव दुर्बोध (अर्थात् अचिन्त्य) है। (जो) निर्लेप, निर्विकार, शान्त (उपद्रव-रहित), असाधारण, व्यापी और प्रपञ्चों से रहित है, उस प्रत्यात्मवेद्य (स्वसंवेद्य) अनुपम (अतुल्य) बुद्धों के धर्मकाय की मैं वन्दना करता हूँ॥ **1**॥

जो लोकातीत, अचिन्त्य और सैकड़ों पुण्यों की फलभूत अपनी महान् विभूति (ऐश्वर्य) को (आर्य बोधिसत्त्वों की) परिषद् के मध्य में उन धीमान् बोधिसत्त्वों की प्रीति (प्रसन्नता) के लिए विचित्र (विभिन्न) प्रकार से सभी (तीनों) लोकों में फैले हुए उदार सद्धर्म के घोष को अविरत (बिना रुके हुए) प्रकाशित (प्रस्फुटित) करता रहता है, उस महाधर्मराज्य में प्रतिष्ठित (बुद्ध के) सम्भोगकाय की मैं यहाँ वन्दना करता हूँ॥ **2**॥

सभी सत्त्वों का परिपाक करने के लिए कहीं-कहीं पर जो प्रदीप्त अग्नि की भाँति आभासित होता है तथा कहीं-कहीं सम्यक्सम्बोधि और धर्मचक्रप्रवर्तन आदि के अवसर पर जो (एकदम) शान्त भी दिखलाई देता है। वह एक ही आकार से नहीं, अपितु अनेक आकारों से प्रवृत्त होता हुआ अनेक उपायों के द्वारा तीनों भवों (कामभव, रूपभव एवं अरूपभव) के भय का निवारण करता है। ऐसे दशों-दिशाओं में व्यापक एवं महान् हित के सम्पादक भगवान् बुद्ध के उस निर्माणकाय की मैं वन्दना करता हूँ॥ **3**॥

सत्त्वों (प्राणियों) के एकमात्र हित का सर्वदा सम्पादन करने के कारण अपरिमित महान् पुण्य और ज्ञान (सम्भार) से प्रादुर्भूत तथागत के त्रिकाय, जो मनस् और वाणी के अगोचर हैं, वे मेरे द्वारा श्रद्धा के साथ नमन किये गये हैं। इसके द्वारा जो पुण्य मैंने बोधि-

बीज के रूप में अर्जित किया है, उससे त्रिकाय को प्राप्त कर मैं सम्पूर्ण जगत् (के सभी प्राणियों) को बोधिमार्ग में आरूढ करूँ॥ 4॥

॥ आचार्य नागार्जुन प्रणीत त्रिकायस्तोत्र समाप्त॥

•

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय

गम्भीर एवं उदार सूत्रमार्ग एवं तन्त्रमार्ग के परिपूर्ण अनुष्ठान पर आश्रित होने से प्राप्त अद्भुत फलरूपी बुद्ध के कायों की व्यवस्था करने में अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप तीन कायों के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

प्रथम धर्मकाय के प्रहाण की दृष्टि से स्वभावकाय और अधिगम की दृष्टि से अनास्रव ज्ञानकाय—इस प्रकार के दो भेद होते हैं। ये दोनों काय बुद्धों के ही परस्पर साक्षात् गोचर हैं। अत: इन्हें स्वार्थसम्पद् (स्वहितसम्पद्) कहा गया है। इन दोनों में से भी प्रथम स्वभावकाय के दो अंश हैं। प्रहेय दो आगन्तुक आवरणों (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) से विमुक्ति (रहितता) नामक अंश तो स्वभावकाय का आगन्तुकविशुद्ध अंश है तथा प्रकृतिस्थ गोत्र (स्वभावगोत्र) स्वरूप चित्त की शून्यता, जो आश्रयपरावृत्ति हो जाने पर बुद्ध के चित्त की शून्यता हो जाती है, वह स्वभावकाय का प्रकृतिविशुद्ध अंश है। इस प्रकार इन दो विशुद्धियों से युक्त धर्मकाय को स्वभावकाय कहा गया है। अधिगमस्वरूप ज्ञानधर्मकाय तो यथावत्-ज्ञान और यावत्-ज्ञान स्वरूप है, जो समस्त ज्ञेयों को अपने सम्मुख स्थित की भाँति ठीक-ठीक (जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा) साक्षात् रूप से जानता है, अत: उस सर्वज्ञज्ञान को कहा गया है। उसमें व्यावृत्ति के द्वारा विस्तृत रूप से 21 अनास्रव वर्ग हैं एवं मध्यम रूप से आदर्शज्ञान आदि पाँच ज्ञान तथा संक्षिप्त रूप से यथावत्-ज्ञान और यावत्-ज्ञान ये दो ज्ञान हैं। यही ज्ञानधर्मकाय है।

सम्भोगकाय तो स्थानविनियत आदि पाँच विनियतों[1] से युक्त निष्ठागत (पराकाष्ठा-प्राप्त) रूपकाय है। वह उत्तम निर्माण काय का आधार कहा जाता है। यह काय तत्त्व के साक्षात्कारी महायानी आर्य पुद्गलों का ही गोचर होता है।

---

1. (क) स्थान विनियत, (ख) काय विनियत, (ग) परिवार विनियत, (घ) धर्म विनियत तथा (ङ) काल विनियत।

निर्माणकाय तो विशुद्ध कर्म वाले सौभाग्यशाली पृथग्जन विनेयों का भी दृष्टिगोचर होता है। यह उपर्युक्त पाँच विनियत धर्मों से असंयुक्त रूपकाय है। इसके तीन भेद होते हैं, यथा—उत्तमनिर्माणकाय, शैल्पिक निर्माणकाय एवं नैर्याणिक निर्माणकाय। इन उपर्युक्त धर्मकाय आदि तीन कायों में से सामान्यतया अन्तिम दो काय (सम्भोगकाय और निर्माणकाय) अन्य विनेयजनों के दृष्टिगोचर होने के कारण परार्थ रूपकाय कहे जाते हैं।

सामान्यत: बुद्ध-कायों के भेदों के बारे में अनेक प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं। उपर्युक्त दो भेद तो आचार्य नागार्जुन प्रणीत रत्नावली एवं युक्तिषष्टिका इन दो ग्रन्थों के अनुसार दो सम्भारों (पुण्य और ज्ञानसम्भार) पर आश्रित होते हैं, यथा—स्वार्थ सद्धर्मकाय और परार्थ सद्-रूपकाय। उत्तरतन्त्र में भी कहा गया है—

स्वार्थः परार्थः परमार्थकाय-
स्तदाश्रिता संवृतिकायता च ।

(तृतीय परिच्छेद, श्लोक-1, पृ० 91)

(अर्थात् स्वार्थ और परार्थ काय क्रमश: परमार्थकाय और संवृतिकाय कहे गये हैं।)

इस प्रकार स्वभावकाय को स्वार्थकाय और परमार्थकाय तथा सम्भोगकाय और निर्माणकाय इन दो रूपी कायों को परार्थकाय एवं संवृतिकाय कहा गया है।

महायानसूत्रालङ्कार में कायों के तीन भेद कहे गये हैं, तथाहि—

त्रिभिः कायैस्तु विज्ञेयो बुद्धानां कायसंग्रहः। (अधिकार-9.6, पृ० 46)

(अर्थात् तीन कायों के द्वारा बुद्ध के कायों का संग्रह जानना चाहिए।)

इस वचन के अनुसार सम्भोगकाय को स्वार्थ के साथ और निर्माणकाय को परार्थ के साथ जोड़कर और स्वभावकाय को उक्त उन दोनों कायों के आश्रय (आधार) के रूप में मानकर प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ तथा उत्तरतन्त्र एवं महायानसंग्रह आदि ग्रन्थों में भी तीन कायों का प्रतिपादन किया गया है।

अभिसमयालङ्कार नामक ग्रन्थ में बुद्ध के चार कायों की व्यवस्था की गई है, तथा हि—

स्वाभाविकः ससाम्भोगो नैर्माणिकोऽपरस्तथा ।
धर्मकायः सकारित्रश्चतुर्धा समुदीरितः ॥ (1.18, पृ० 8)

(अर्थात् स्वभावकाय, सम्भोगकाय, निर्माणकाय के अतिरिक्त धर्मकाय के साथ चार काय होते हैं।)

इस प्रकार दो रूपी (सम्भोग और निर्माण) काय तथा स्वभाव काय और ज्ञानधर्म काय दोनों को अलग-अलग गिनकर कायों के चार भेद किये गये हैं। इस ग्रन्थ के वृत्तिकार आर्य विमुक्तिसेन और उनके अनुयायी तथा आचार्य हरिभद्र और उनके अनुयायी इन दोनों के मतों में मूल ग्रन्थ के अर्थ की व्याख्या करने के ढंग में क्रमशः तीन काय और चार काय की व्याख्या करने की प्रक्रिया में पर्याप्त मतभेद प्रतीत होते हैं। आर्य विमुक्तिसेन और उनके अनुयायी ज्ञानधर्मकाय को अवशिष्ट तीन कायों से भिन्न रूप में मानते हुए प्रतीत नहीं होते।

कायों के पाँच भेद मानने वालों में भी अनेक मत दृष्टिगोचर होते हैं। आर्यमञ्जुश्री-नामसंगीति में कहा गया है—

पञ्चकायात्मको बुद्धः पञ्चज्ञानात्मको विभुः ॥ (श्लो० सं० 59)

(अर्थात् बुद्ध पञ्चकायात्मक हैं और पाँच ज्ञानों से समन्वित हैं।)

इसी प्रकार सम्भोगकाय के महासम्भोगकाय और प्रज्ञप्त सम्भोगकाय ये दो भेद करके पाँच कायों की व्याख्या भी की जाती है। आचार्य ललितवज्र ने स्वभावकाय, सम्भोगकाय, विपाककाय, निर्माणकाय तथा धर्मकाय—इस प्रकार पाँच कायों को माना है। ऐसा मानने वालों की भी अनेक परम्पराएं हैं।

अधिकतर प्रचलित मान्यता के अनुसार चार कायों में से स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकाय—इन दोनों को धर्मकाय के अन्तर्गत संकलित करके धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय इन तीनों कायों में ही चारों को संगृहीत किया जाता है तथा सम्भोगकाय और निर्माणकाय को भी रूपकाय के अन्तर्गत संकलित करके धर्मकाय और रूपकाय इन दोनों में भी विभक्त किया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के मुख्य अभिधेय निम्नलिखित हैं—जिन अर्थात् तथागतों के प्रत्यात्मवेद्य ज्ञान के गोचर प्रहाण और अधिगम गुणों का पराकाष्ठाप्राप्त धर्मकाय

स्वहितसम्पद् और परहितसम्पद् का आधार है। इस (धर्मकाय) का स्वरूप दो आवरणों (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) से निर्लिप्त (रहित), अत्यन्त निर्विकार, शान्त, निष्प्रपञ्च आदि गुणों से युक्त है।

सम्भोगकाय स्वहित और परहित दोनों गुणों में पारङ्गत है और वह हेतुभूत अचिन्त्य पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार स्वरूप पराकाष्ठाप्राप्त सैकड़ों सुकृतों (पुण्यों) का फलात्मक काय है तथा वह धीमान् जिनपुत्रों (बोधिसत्त्वों) में अत्यन्त प्रीति (आनन्द) को उत्पन्न करने के लिए महायान सद्धर्म का उद्घोष करते हुए अकनिष्ठ लोक में सर्वत्र प्रस्फुटित होता रहता है और सद्धर्मरूपी महाधर्मराज्य में प्रतिष्ठित रहता है। तथा जब तक संसार है, तब तक अविकृत रूप से विद्यमान रहता है।

उत्तम निर्माणकाय तो पृथग्जन, श्रावक आदि सभी का गोचर (दृश्य) होता है। वह सभी सत्त्वों का परिपाक करने के लिए अपरिमित निर्मित व्यूहमण्डलों के माध्यम से पृथग्जन-लीला से लेकर उत्तम निर्माणकाय-लीला पर्यन्त अनेकविध (बारह) लीलाओं को दिखलाता है। इस प्रकार धर्मचक्रप्रवर्तन आदि विभिन्न विपुल उपायों द्वारा वह तीनों भवों (कामभव, रूपभव एवं अरूपभव) के सम्पूर्ण भयों का निवारण करते हुए अशेष सत्त्वों का महान् हितसाधक होता है।

इस तरह आचार्य नागार्जुन ने निर्माणकाय सहित तीनों अद्भुत कायों का उदारतापूर्वक नमन किया है और स्तुति की है।

सर्वथा सर्वदा सभी सत्त्वों का हित करने में प्रवृत्त, दो सम्भारों (ज्ञान और पुण्य) की अपरिमित श्री (समृद्धि) से प्रादुर्भूत, जो मनस् के द्वारा चिन्तन एवं वाणी द्वारा अभिधान से अतीत हैं, उन जिन-तथागतों के त्रिकाय की आचार्य नागार्जुन द्वारा श्रद्धा और आदर के साथ स्तुति (नमन) की गई है, उस (स्तुति) के द्वारा प्रादुर्भूत कुशल कर्म (पुण्य) के बल से परम विशिष्ट, प्रकृष्ट एवं प्राप्तव्य त्रिकाय का साक्षात्कार करके 'मैं (नागार्जुन) सभी सत्त्वों (प्राणिमात्र) को उसी फल (बुद्धत्व-)पद के मार्ग पर आरूढ कर सकूँ'। इस प्रकार आचार्य नागार्जुन ने अन्त में परिणामना और प्रणिधान से अपनी कृति को अलङ्कृत किया है।

सुप्रसिद्ध एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्तोत्र पर एक वृत्ति भी तन्ग्युर-संग्रह में उपलब्ध होती है। उस (वृत्ति) के अन्त में उल्लिखित वाक्य-समूह को आधार बनाकर तन्ग्युर-

संग्रह के सूचीकर्ताओं ने यह वृत्ति स्वयं आचार्य नागार्जुन द्वारा विरचित है—ऐसा मानकर सभी संस्करणों की सूची में यह ग्रन्थ आचार्य नागार्जुन के नाम के साथ जोड़ रखा है, लेकिन ग्रन्थ के प्रारम्भ में पद्यात्मक (श्लोक के) रूप में "महासत्त्व (भगवान् बुद्ध) के त्रिकाय का (यह) स्तोत्र नागार्जुन द्वारा रचा गया है तथा अन्य (श्रद्धालु) जनों के द्वारा प्रार्थना करने के कारण जैसा (ग्रन्थ) स्थित है, (तदनुसार) विवरण (व्याख्या) किया जा रहा है"—ऐसा उल्लेख मिलता है। तथा ग्रन्थ के अन्त (पुष्पिका) में भी गद्य के रूप में "उस प्रकार के निर्माणकाय को नमन करता हूँ—ऐसा आचार्य नागार्जुन ने कहा है"—ऐसा वाक्य भी उपलब्ध होता है। इन वचन समूहों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह वृत्ति (व्याख्या) आचार्य नागार्जुन की न होकर किसी अन्य आचार्य द्वारा विरचित है।

आचार्य नागार्जुन ने यदि स्वयं यह वृत्ति लिखी होती तो उक्त प्रकार के वचनसमूह का प्रयोग वे कदापि नहीं करते। 'मेरा यह ग्रन्थ जगत् के हित के लिए अत्यधिक लाभकारी हो'—ऐसा सोचकर अनेक आचार्यों ने अपने नाम के स्थान पर आचार्य नागार्जुन के नाम का प्रयोग कर दिया है—ऐसा भी बहुत जगह देखने को मिलता है। उसी प्रकार इस वृत्ति के बारे में भी घटित हुआ है—ऐसा भी मुझे यहाँ प्रतीत नहीं होता है। फिर भी विद्वानों को इस विषय में सूक्ष्म अन्वेषण करना चाहिए।

ग्रन्थ के अन्त में "आचार्य नागार्जुन द्वारा विरचित त्रिकाय स्तोत्र की वृत्ति समाप्त"—ऐसा उल्लेख है। यहाँ आचार्य नागार्जुन की रचना का सम्बन्ध 'त्रिकायस्तोत्र' से है, न कि वृत्ति से—ऐसा मैं समझता हूँ, किन्तु 'तन्युर' के संग्रहकर्ताओं ने अपनी सूचियों में 'नागार्जुन' का सम्बन्ध 'वृत्ति' से जोड़कर भ्रमवश नागार्जुन को वृत्ति के रचयिता के रूप में उल्लेख कर दिया है। इसलिए मेरी दृष्टि में वृत्ति के रचयिता नागार्जुन न होकर कोई अन्य (अज्ञात) आचार्य हैं। फिर भी मैं इस विषय में कोई निश्चित निर्णय लेने की स्थिति में नहीं हूँ। विद्वानों को इस विषय में विचार करना चाहिए।

चतु:श्लोकात्मक (चार श्लोकों वाले) इस स्तोत्र ग्रन्थ का मुख्य अभिधेय (भगवान् बुद्ध के) तीन कायों से सम्बद्ध है। उनमें से तीन श्लोक तो सौभाग्य से हमें आचार्य भवभट्ट विरचित 'श्रीहेरुकाभिधान चक्रसंवरतन्त्र'[1] विवृति और श्रीनारोपाद कृत

1. चक्रसंवरतन्त्रम्, कायत्रयसिद्धिहृदयमन्त्रस्य कर्मविधिपटलो दशम:, पृ० 82-83

सेकोद्देशटीका[1] में मूल संस्कृत में उपलब्ध हो गये। उसी प्रकार भोट देश के विद्वान् 'गोस्-लोच़ावा-शोन्नु-द्पल्' द्वारा विरचित 'देब्-थेर्-ङोन्-पो' (Blue Annals)[2] नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में ये श्लोक संस्कृत भाषा में भोट लिपि में दिये हुए उपलब्ध हुए हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा विरचित 'बौद्ध धर्म-दर्शन'[3] नामक ग्रन्थ में भी त्रिकाय के प्रतिपादन करने के अवसर पर प्रथम दो श्लोक संस्कृत में उद्धृत हैं। उसी ग्रन्थ में यह भी उल्लिखित है कि यह 'त्रिकायस्तव' नामक ग्रन्थ स्रग्धरा छन्द में 16 श्लोकों में संस्कृत भाषा में उपलब्ध होता है और उसका चीनी यात्री फाहियान ने चीनी-लिपि में लेखन किया है। अत: इस विषय में भी सूक्ष्मतया अन्वेषण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उन उपर्युक्त ग्रन्थों में दिये हुए संस्कृत-पाठों में कुछ पाठ-भेद हैं और उनके भोट-पाठों में तो पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

तन्त्र ग्रन्थों की अनेक टीकाओं में प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित तीन कायों की स्तुति के अतिरिक्त महासुखकाय को प्रतिपादित करने वाला चौथा श्लोक भी उपलब्ध होता है।[4] आचार्य नारोपा विरचित सेकोद्देश टीका में 'उक्तं चार्यमञ्जुश्रीपादैस्तन्त्रोत्तरे' कहकर मञ्जुश्रीपाद के तन्त्रोत्तर के वचन के रूप में 'यत्राभूतेति.........सुखगताचार्यनागाह्वयेन॥' के साथ क्रमश: चार श्लोक उद्धृत हैं, जो श्रीकालचक्रतन्त्रोत्तर के हैं। उसी प्रकार आचार्य रविश्रीज्ञान द्वारा रचित नामसंगीति-टिप्पणी अमृतकणिका में भी उपर्युक्त चार कायों के लक्षणों को प्रतिपादित करने वाले चारों श्लोकों को आचार्य नागार्जुन के वचन के रूप में उद्धृत किया गया है। जैसे ''उक्तञ्च नागार्जुनपादै:—'यो नैको नाप्यनेक' इत्यादिना धर्मकायलक्षणम्। ...'त्रैलोक्याचारमुक्तम्' इत्यादिना महासुख-कायस्य''। यहाँ स्पष्टत: इसे नागार्जुन के वचन के रूप में उद्धृत किया गया है। गोस् लोच़ावा ने भी अपने ग्रन्थ देब्-थेर्-ङोन्-पो के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में भी चारों कायों के प्रतिपादक श्लोकों को उद्धृत किया है।

---

1. सेकोद्देशटीका, पृ॰ 57, (G.O.S. Vol. XC, 1941).
2. भोट संस्करण, पृ॰ 5-16, मी-रिग-पे-ट्रुन खङ्, 1984.
3. बौद्ध-धर्मदर्शन, पृ॰ 116, 119
4. त्रैलोक्याचारमुक्तं गगनसमगतं सर्वभावस्वभावं
   शुद्धं शान्तं विविक्तं परमशिवमयं योगिनामेव गम्यम् ।
   दुर्बोधं दुर्विचारं स्वपरहिततमं व्यापिनं निर्निमित्तं
   वन्दे कायं जिनानां सुखमसमसमं निर्विकल्पैकमूर्तिम् ॥ नड(नारो)पाद कृत सेकोद्देशटीका, पृ॰ 58, (G.O.S. Vol. XC, 1941).

इस प्रकार प्रणिधानसहित चतु:श्लोकात्मक ग्रन्थ, महासुखकाय सहित चारों कायों के लक्षणों का एक साथ वर्णन और आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार संस्कृत में इससे सम्बद्ध 16 श्लोकों का उपलब्ध होना आदि, इस ग्रन्थ के विषय में अनेक विचारणीय तथ्य सामने आते हैं।

ध्यातव्य है कि काग्युर संग्रह में उपलब्ध 'श्रीकालचक्रतन्त्रोत्तरतन्त्रहृदय' नामक इस ग्रन्थ को बुद्धवचन माना जाता है। यदि इसे वास्तव में बुद्धवचन मानें तो उसमें नागार्जुन द्वारा रचित वचनों को बुद्धवचन के रूप में उद्धृत करना कहाँ तक उचित है? सेकोद्देशटीका में नारोपा ने कालचक्रतन्त्रोत्तर के रचयिता जिस मञ्जुश्रीपाद का उल्लेख किया है, सम्भवत: वह कल्कि राजा मञ्जुश्रीयश हो सकते हैं। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार अपेक्षित है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम पुनरुद्धार कर सिल्वाँ लेवी ने पेरिस से Revue de l' histoire des Religions, भाग XXXIV, पृ० 17-21 में सन् 1896 में प्रकाशित किया। इसे Baron A. Von Stael-Holstein ने भी Bulletin de l' Académie Impériale des Sciences de St. Petersbourg के संख्या 11, पृ० 837-845 में सन् 1911 को "Bemerkungen zum Trikāyastava" शीर्षक से प्रकाशित किया है। ये दोनों प्रकाशन फिलहाल मेरे देखने में नहीं आये। उक्त प्रकाशनों में इस ग्रन्थ का स्वरूप एवं आकार कैसा है? इन सब पर अत्यन्त सूक्ष्मता से विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत निबन्ध में संस्कृत में मूल-पाठ और उसका भोट-अनुवाद तथा उन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन और अनुपलब्ध अन्तिम चतुर्थ श्लोक का भोट-भाषा से संस्कृत में पुनरुद्धार, सम्पादन, हिन्दी-अनुवाद एवं (उनका) संक्षिप्त परिचय आदि कार्य सम्पन्न करके प्रस्तुत किया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण स्तोत्रग्रन्थ के पुनरुद्धार, हिन्दी-अनुवाद एवं सम्पादन कार्य में बौद्ध विद्या के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० रामशंकर त्रिपाठी (शोध-आचार्य) का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। अत: उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस परम पवित्र कार्य से प्राप्त पुण्यों से 'सभी सत्त्व त्रिकाय की प्राप्ति के प्रति उन्मुख हों'—ऐसी परिणामना करता हूँ।

•

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के 38वें अंक में 79 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे अन्य 68 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī Script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
अपराजितामहाप्रत्यङ्गिरास्तोत्र Aparājitāmahāpratyaṅgirāstotra		RAK "	Reel No.E.1341/6 " " E.1868/2
अपरिमितायुमहायानसूत्र Aparimitāyumahāyānasūtra		ASHA " "	DH.94 " 142 " 435
अभिधानोत्तरतन्त्र Abhidhānottaratantra		" " "	" 397 " 374 " 312
अभिषेकविधि Abhiṣekavidhi		RAK	Reel No. H.148/3
अमृतकणिकोद्योतनिबन्ध Amṛtakaṇikodyotanibandha		ASHA	DH.366
अमोघपाशावलोकितेश्वर- अष्टमीव्रतपूजाविधि Amogapāśāvalokiteśvara- Aṣṭamīvratapūjāvidhi		RAK	Reel No. E.592
अवलोकितेश्वरत्रिगुणात्मकस्तोत्र Avalokiteśvaratriguṇātmakastotra		ASHA	DH.224

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	26	Comp.	
”	”	17	”	
”	”	15		
”	”	25(25-49)		
”	”	21		
”	”	112	”	
”	”	93	”	
”	”	23	Incomp.	
”	”	51	”	
”	”	56	Comp.	
”	”	54	”	
”	”	98	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
आचार्यक्रियासमुच्चय Ācāryakriyāsamuccaya		RAK " "	Reel No.E.1267/15 " " E.934/12 5/146 (B.103/11)
आचार्यक्रियासंग्रह Ācāryakriyāsaṁgraha		ASHA	Bubi-287
आर्यद्वादशसाहस्रिकामहाप्रत्यङ्गिरासर्व- तथागतोष्णीषसितातपत्रानाममहाविद्याराज्ञी- अवलोकितमूर्ध्नितृतीयकल्प Āryadvādaśasāhasrikāmahāpratyaṅgirāsarva- tathāgatoṣṇīṣasitātapatrānāmamahāvidyārājñī- Avalokitamūrddhnitṛtīyakalpa		"	DH.II-192
आर्यामोघपाशनामहृदयमहायानसूत्र Āryāmoghapāśanāmahṛdayamahāyānasūtra		"	DH.II-224
आर्यावलोकितेश्वररत्नमालास्तोत्र Āryāvalokiteśvararatnamālāstotra		RAK	Reel No. E. 972/9
कर्मराजनामत्रिसमाधि Karmarājanāmatrisamādhi		"	" " E.1200/5
कर्मविधिसंग्रह Karmavidhisaṁgraha		ASHA	RN. 2.587
कर्मविभङ्गसूत्र Karmavibhaṅgasūtra		RAK "	Reel No. B.23/22 5/141 (B-22/26)
(महा)कर्मविभङ्गसूत्र (Mahā)Karmavibhaṅgasūtra		" "	4/20 (B.22/2) 5.265 (B. 94/3)

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	152	Incomp.	
"	"	156	"	
"	"	363	Comp.	
"	"	180	"	
"	"	15		
"	"	(3a-12b)	Incomp.	Missing folios 1, 2, 10, 11
"	"	28	"	
"	"	42	Comp.	
"	"	109	"	
PL	Bhujimol	29	Incomp.	
"	"	3	"	
NP	N	77	"	
"	Dev.	Folding Book		

Title	Author	Institution	Ms. No.
कालचक्रतन्त्र Kālacakratantra		ASHA "	DH.368 D.382 (II-100)
कृष्णयमारितन्त्र Kṛṣṇayamāritantra		"	Bata 113
कौलपूजाविधि Kaulapūjāvidhi		RAK " " " "	Reel No. H.226/14 " " H.145/18 " " H.146/9 " " E.1376/4 " " E.1790/8
कौल(महारहस्यसिंदूरार्चन) पूजाविधि Kaula(mahārahasyasindūrārcana)pūjāvidhi		" ASHA	" " E.1104/14 RN. 2680
कौलमुखीविधि Kaulamukhīvidhi		RAK "	Reel No. E.1268/10 " " E.1260/24
कौलस्य संक्षिप्तपूजाविधि Kaulasya Saṁkṣiptapūjāvidhi		"	" " E.2372/6
कौलादिपूजाविधि Kaulādipūjāvidhi		"	" " E.126/7

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	82	Comp.	
"	"	138	"	
"	"	101	Incomp.	
"	"	57	Comp.	
"	"	12	Incomp.	
"	"	17		
"	"	25	Comp.	
"	"	7	Incomp.	
"	Dev.	50	Comp.	
"	N	32	"	
"	"	45	"	
"	"	29	"	
"	"	14	Incomp.	
"	"	24	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
गणचक्रक्रियाविधि Gaṇacakrakriyāvidhi		ASHA	RN.232
गणचक्रपूजाविधि Gaṇacakrapūjāvidhi		”	RN.2.733
		”	” 2.642
		”	” 340
		”	” 2.663
गुरु-अन्वेषणविधि Guru-Anveṣaṇavidhi		”	4/1154 (A.128/14)
गुह्यसमयसाधनमाला Guhyasamayasādhanamālā		”	RN.3797
चक्रसंवरपूजाविधि Cakrasaṁvarapūjāvidhi		RAK	Reel No. E.1881/11
चक्रसंवरमण्डलविधि Cakrasaṁvaramaṇḍalavidhi		”	” ” H.25/12
चक्रसंवरसमाधि Cakrasaṁvarasamādhi		ASHA	DH.292
		”	D.625 (II-350)
		”	RN.2.658

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	29	Comp.	
"	"	73	"	
"	"	44	"	
"	"	32	"	
"	"	31	"	
"	"	Folding Book	"	
"	"	212	"	
"	"	35	"	
"	"	16	"	
"	"	12	"	
"	"	32	"	
"	"	54	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चण्डमहारोषणतन्त्र		ASHA	D.376 (II-94)
Caṇḍamahāroṣaṇatantra		"	D.17 (DH.22)
		"	D.172 (DH.275)
		"	D.202 (DH.318)
		"	RN.2758
		"	" 402
		"	" 1.671
		"	" 2751
		"	" 2745
		"	" 2762
		"	Buta.15
		"	" 16
		"	" 17
		"	" 93
		"	" 103
		"	" 106
चण्डमहारोषणतन्त्रटीका		"	RN.2.698
Caṇḍamahāroṣaṇatantraṭīkā			
चण्डमहारोषणमन्त्रसाधनविधि		RAK	Reel No. E.1485/8
Caṇḍamahāroṣaṇamantrasādhanavidhi			
चण्डमहारोषणाभिषेकविधि		ASHA	RN.2.650
Caṇḍamahāroṣaṇābhiṣekavidhi			
चतुर्विंशतितन्त्र		"	Buta.94
Caturviṁśatitantra		"	D.248 (DH.378)
चन्द्रप्रभावदान		RAK	Reel No. E.264/17
Candraprabhāvadāna			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	123	Comp.	
"	"	94	"	
"	"	112	"	
"	"	97	"	
"	"	96	"	
"	"	63	"	
"	"	79	"	
"	"	74	"	
"	"	74	"	
"	"	86	"	
"	"	75	"	
"	"	133	"	
"	"	106	"	
"	"	87	"	
"	"	52	Incomp.	
"	"	88	Comp.	
"	"	30	"	
"	"	24	"	
"	"	28	"	
"	"	72	"	
"	"	12	Incomp.	
"	"	7(35-41)	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चन्द्रसेनावदान Candrasenāvadāna		KYOTO	39 (103,1)
चरणदर्शनाभिलाषस्तोत्र Caraṇadarśanābhilāṣastotra		CAMBRIDGE	1614
चरपटिस्तव Carapaṭistava		RAK	Reel No. H.382/4
चर्यागीतसंग्रह Caryāgītasaṁgraha		"	Reel No. E.1243/21
		"	" " E.1143/3
		"	" " E.1354/2
		"	" " E.1446/35
		"	" " E.1502/5
		"	" " E.1502/17
		"	" " E.1503/3
		"	" " E.1504/4
जातकर्म, उपनयनविधि Jātakarma, Upanayanavidhi		ASHA	DH.176
जातकजन्मविधि Jātakajanmavidhi		"	DH.187
जातकमालाटीका Jātakamālāṭīkā		SMTUL	137

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	108	Comp.	
”	”	3(8-10)		
NP	”	21	Incomp.	
”	”	88	Comp.	
”	”	124	”	
”	”	61	”	
”	”	28	Incomp.	
”	”	27	Comp.	
”	”	35	”	
”	”	36	”	
”	”	20	Incomp.	
”	”	48		
”	”	40		
Paper	”	57		

Title	Author	Institution	Ms. No.
डाकार्णवमहायोगिनीतन्त्र Ḍākārṇavamahāyoginītantra		ASHA "	D.211 (DH.325) D.375 (II-93)
डाकिनीगुह्यसमयसाधनमाला Ḍākinīguhyasamayasādhanamālā		"	D.274 (DH.332)
तारानामाष्टोत्तर षड्स्तोत्र Tārānāmāṣṭottara Ṣaḍstotra		RAK "	Reel No.E.1300/1 " " E.1259/8
ताराष्टोत्तरशतनामस्तोत्र Tārāṣṭottaraśatanāmastotra		"	" " E.1447/2
तारास्तोत्र Tārāstotra		"	" " E.1544/14
(श्री)त्रयोदशात्मक श्रीसंवरपूजाविधि (Śrī)trayodaśātmaka Śrīsaṁvara- pūjāvidhi		ASHA	DH.II-311
तृतीयपीठतन्त्र Tṛtīyapīṭhatantra		"	D.208 (DH.325)
दशकर्मविधि Daśakarmavidhi		RAK	Reel No. E.1866/19

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	141	Comp.	
"	"	190	"	
"	"	101	"	
"	"	22		
"	"	37	"	
"	"	87	"	
"	"	14	"	
"	"	Folding Book		
"	"	107	"	
"	"	19	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
दानगाथा Dānagāthā		RAK	4/1030 (A.129/1)
दीक्षा-उपाध्यायविधि Dīkṣā-Upādhyāyavidhi		ASHA "	DH.II-197 DH.II-198
दुर्गतिपरिशोधनमण्डल Durgatipariśodhanamaṇḍala		"	D.422 (II-143)
दुर्गतिपरिशोधनसमाधि Durgatipariśodhanasamādhi		RAK	Reel No. E.1490/3
देव-देवीबलिपूजाविधि Deva-Devībalipūjāvidhi		"	4/1383 (A.129/5)
द्वादशसाहस्रिकाविनयसूत्रोद्धृत पाप-परिमोचननामनिर्देश Dvādaśasāhasrikāvinayasūtroddhṛta-pāpaparimocananāmanirdeśa		ASHA "	DH.229 DH.321
द्वादशसाहस्रिकामहाप्रत्यङ्गिरा Dvādaśasāhasrikāmahāpratyaṅgirā		IASWR	WGS-25
द्वाविंशत्यवदान Dvāviṁśatyavadāna		RAK	Reel No. D.59/5

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	18 (Folding Book)		
"	"	Folding Book		
"	"	"		
"	"	20	Incomp.	
"	"	12	Comp.	
"	"	33	"	
"	"	70		
"	"	65		
"	"	150		
"	"	1-10, 12-89	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
(श्री)धर्मधातुस्वयंभूत्पत्तिधर्ममाहात्म्य-सुभाषितसूत्र (Śrī)Dharmadhātusvayambhūtpatti-dharmamāhātmyasubhāṣitasūtra		ASHA	DH.97
		"	DH.101
		"	DH.104
		"	DH.II-194
नामकरणविधि Nāmakaraṇavidhi		RAK	Reel No. E.1866/22
		"	" " E.1867/20
		"	" " E.1243/13
		"	" " E.1243/14
नामसंगीतिटीका Nāmasaṁgītiṭīkā		"	" " E.1369/3
नित्यार्चनविधि (संक्षिप्तनित्यपूजाविधि) Nityārcanavidhi (Saṁkṣiptanityapūjāvidhi)		ASHA	DH.135
निष्पन्नयोगाम्बरतन्त्र Niṣpannayogāmbaratantra		"	RN.262
		"	D.426 (II-146)
निष्पन्नयोगावली Niṣpannayogāvalī		"	D.184 (DH.293)
नैरात्मतन्त्र Nairātmatantra		"	RN.2.659
		"	D.5(DH.5)
		"	D.235 (DH.365)
		RAK	Reel No. E.593/26

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	1b-97b	Comp.	
"	"	1b-115b	"	
"	"	161	"	
"	"	76a-100b	Incomp.	
"	"	28	Comp.	
"	"	16	"	
"	"	13	"	
"	"	7	"	
"	"	194	"	
"	"	12		
"	"	102	"	
"	"	118	"	
"	"	91	"	
"	"	124	"	
"	"	98	"	
"	"	37	Incomp.	
"	"	114	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
पञ्चतथागतज्ञानगाथा Pañcatathāgatajñānagāthā		ASHA	DH.II-293
पञ्चरक्षा		RAK	Reel No.E.459/2
Pañcarakṣā		"	" " E.621/5
		"	" " E.653/1
		"	" " E.666/2
		"	" " E.873/7
		"	" " E.934/11
		"	" " E.1236/12
		"	" " E.1238/34
		"	" " E.1361/14
		"	" " E.1715/22
		"	" " E.1134/4
		"	" " E.1267/20
		"	" " E.1268/1
		"	" " E.1450/1
		"	" " E.1358/2
		"	" " E.1479/8
		"	" " E.1480/1
		"	" " E.1505/1
		ASHA	RN.2887
		"	" 313
		"	" 1.648
		"	" 2.891
		"	" 439
		"	Busu 38
		"	RN.2752
		"	" 2755
		"	" 350
		"	" 148
		"	" 159

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	(1b-24b)	Incomp.	Missing Folio 25
”	”	147	Comp.	
”	”	59	Incomp.	
”	”	111	”	
”	”	159	Comp.	
”	”	81	”	
”	”	61	Incomp.	
”	”	111	”	
”	”	59	”	
”	”	144	Comp.	
PL	”	142	”	
NP	”	99	”	
”	”	189	”	
”	”	142	”	
”	”	139	”	
”	”	132	”	
”	”	94	Incomp.	
”	”	105	”	
”	”	140	Comp.	
”	”	36	”	
”	”	128	”	
”	”	189	”	
”	”	133	”	
”	”	138	”	
”	”	168	”	
”	”	202	”	
”	”	146	”	
”	”	94	”	

त्रैलोक्याचारमुक्तं गगनसमगतं सर्वभावस्वभावं
शुद्धं शान्तं विविक्तं परमशिवमयं योगिनामेव गम्यम् ।
दुर्बोधं दुर्विचारं स्वपरहिततमं व्यापिनं निर्निमित्तम्
वन्दे कायं जिनानां सुखमसमसमं निर्विकल्पैकमूर्तिम् ॥

(उद्धृतं-सेकोद्देशटीकात:)

अवलोकितेश्वर के विविध स्वरूप

—ठाकुरसेन नेगी—

[प्रस्तुत लेख में बौद्ध देवकुलों में—बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के विविध स्वरूप विषय पर विवेचन किया जा रहा है।

संक्षेप में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर बौद्ध देवकुलों के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता हैं। वे अमिताभ बुद्ध और उनकी शक्ति पाण्डरा से उद्‌भूत हैं। साधनमाला के अनुसार विविध आभूषणों से अलंकृत अवलोकितेश्वर त्रिमुखी, त्रिनेत्री एवं चतुर्भुजी हैं। उनके दो हाथ व्याख्यानमुद्रा में और शेष दो हाथों में दायां हाथ वरदमुद्रा तथा बायां हाथ में नागकेसर लिए हुए हैं।]

अवलोकितेश्वर

बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के चार हजार वर्ष बाद विश्वपाणि बोधिसत्त्व का युग प्रारम्भ होगा, जिसके मानुषी बुद्ध मैत्रेय होंगे। एक मानुषी बुद्ध के निर्वाण और दूसरे मानुषी बुद्ध के जन्म के मध्य काल का सम्पूर्ण कार्य बोधिसत्त्व द्वारा किया जाता है। इस प्रकार गौतम बुद्ध के निर्वाण एवं मैत्रेय के जन्म के मध्यकाल में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर संसार के कार्यों का संचालन (अवलोकन) करेंगे। वर्तमान कल्प का बोधिसत्त्व और मानुषी बुद्ध होने के कारण ही बौद्ध देवकुल में अवलोकितेश्वर और गौतम बुद्ध को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली।

बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर बौद्ध देवकुल के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता हैं। वे अमिताभ बुद्ध और उनकी शक्ति पाण्डरा से उद्‌भूत हैं। वर्तमान कल्प (भद्रकल्प) के अधिष्ठातृ देवता बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर हैं। भद्रकल्प से तात्पर्य सम्भवतः भगवान् बुद्ध के निर्वाण से बोधिसत्त्व मैत्रेय के आगमन तक का समय माना गया है। यह कल्प बोधिसत्त्व से अवलोकित, संरक्षित है, इसीलिए इन्हें अवलोकितेश्वर नाम से सम्बोधित किया गया। इनके हाथ में सदैव पद्मपुष्प रहता है, इसीलिए ये पद्मपाणि नाम से भी विख्यात हैं। कारण्डव्यूह में भी कहा है—छह गतियों में उत्पन्न और त्रैधातुक भुवन में आश्रित जो लोक हैं और उनमें जो प्राणी दुःखी हैं, पाप में आसक्त हैं, क्लेश रूपी अग्नि से परितापित हैं, उन सबको उस जगन्नाथ (अवलोकितेश्वर) ने करुणादृष्टि से देखा, इसलिए (वह) तीनों जगत् में 'अवलोकितेश' नाम से विख्यात हैं।

गुणकारण्डव्यूह में कहा है—अवलोकितेश्वर ने निर्वाण अस्वीकार कर दिया तथा प्रण किया कि ''जब तक सम्पूर्ण प्राणि जगत् सम्बोधि नहीं प्राप्त करेगा, तब तक मैं निर्वाण नहीं स्वीकार करूँगा। अर्थात् इन्होंने सभी मनुष्यों के सम्बोधि प्राप्त किये बिना निर्वाण प्राप्त करने से इनकार कर दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवों को अपने आध्यात्मिक उपदेशों से निर्वाण की ओर प्रेरित करने के लिए यह प्रयत्नशील हैं।

साधनमाला तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों में अवलोकितेश्वर के 15 स्वरूपों का विविध वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु महायान परम्परा में उनके 108 स्वरूपों का विशद विवेचन है। लगभग तीन सौ साल पुराने अवलोकितेश्वर के 108 स्वरूपों के चित्र नेपाल के मच्छन्दरवहाल नामक बौद्ध विहार में प्रदर्शित है। संक्षेप में साधनमाला के अनुसार विविध आभूषणों से अलंकृत अवलोकितेश्वर त्रिमुखी, त्रिनेत्री एवं चतुर्भुजी हैं। उनका शरीर सुनहरा है। उनके दो हाथ व्याख्यान मुद्रा में हैं और शेष दो हाथों में दाहिने में वरदमुद्रा तथा बायें हाथ में नागकेसर लिए हुए हैं।

अमिताभ ध्यानी बुद्ध से उद्भूत लोकेश्वर

1. खसर्पण लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 13, 14, 15, 16, 24, 26) में खसर्पण लोकेश्वर के रूप का वर्णन देखने को मिलता है। खसर्पण के प्रायः वे ही लक्षण व मुद्रा हैं जो लोकनाथ लोकेश्वर की हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ खसर्पण के चार अनुचर हैं, वहीं लोकनाथ के दो ही अनुचर हैं। इस देवता के दायीं ओर सुधनकुमार व तारा तथा बायीं ओर भृकुटी व हयग्रीव उपस्थित रहते हैं। अर्थात् ये श्वेतवर्णी, द्विभुजी एवं द्विदल पद्म पर चन्द्रासन पर अर्द्धपर्यङ्क या ललितमुद्रा में आसीन है। दायें हाथ वरदमुद्रा में तथा बायें हाथ में सनाल पद्म है, सामने तारा, दाहिने सुधनकुमार, पीछे भृकुटी तथा बायें हयग्रीव स्थित हैं। इनके मुकुट पर अमिताभ ध्यानी बुद्ध अंकित हैं।

''...हिमकरकोटिकिरणावदातं देहं ऊर्ध्वजटामकुटं अमिताभशेखरं विश्वनलिन-निषण्णं शशिमण्डले अर्द्धपर्यङ्कनिषण्णं ...दक्षिणे वरदकरं वामकरेण सनालकमलधरं ...तस्य पुरतस्तारा दक्षिणपार्श्वे सुधनकुमार...पश्चिमे भृकुटी हयग्रीव उत्तरे...।''

(साधनमाला, साधन सं० 14, पृ० 39-40)

2. जटामुकुट लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 12) में ये एकमुखी व चतुर्भुजी है। जटामुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। दायें के दो हाथों में एक अक्षमाला व दूसरा वरदमुद्रा में है। जबकि बायें के दो हाथों में कमल व जलपात्र है। वे स्थानकमुद्रा में हैं[1]। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित हैं।

3. त्रैलोक्यवशङ्कर लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 35-36) में लोकेश्वर का स्वरूप (महाराग) रक्तवर्ण, एक मुख, द्विभुज एवं त्रिनेत्र है। इनके हाथों में वज्राङ्कित पाश अंकुश होता है। ये रक्तपद्म पर वज्रपर्यङ्कासन मुद्रा में आसीन होते हैं। ये दिव्याभरण एवं वस्त्रों से विभूषित है। इनके मुकुट पर ध्यानीबुद्ध अमिताभ अंकित है।

"...लोकेश्वरं सर्वावज्राङ्गमहारागरक्तमेकमुखं द्विभुजं त्रिनेत्रं जटामकुटमण्डितं वज्राङ्कितपाशाङ्कुशहस्तं रक्तपद्मे वज्रपर्यङ्कनिषण्णं दिव्याभरणवस्त्रविभूषितम् ...शिरस्थ अमिताभं ध्यायात्।" (साधनमाला, साधन सं० 35, पृ० 80)

4. नीलकण्ठ लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 39) में यह पीतवर्णी है। इनका जटामुकुट अर्द्धचन्द्र द्वारा सुशोभित है तथा उस पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित हैं। ये रक्तकमल पर, जिस पर काले हिरण(मृग) की चर्म बिछी हुई है वज्रपर्यङ्कसमाधिमुद्रा में स्थित है। रक्त पूरित कपाल को लेकर ये अपने दो हाथों से वज्रपर्यङ्कसमाधिमुद्रा का प्रदर्शन करते हैं। ये बिना आभूषणों के व्याघ्रचर्म धारण किये हुए हैं। इनके कण्ठ पर विष का नीला निशान है। इनके पार्श्व में दो मणिनाग अपने फणों पर मणि रखे हुए इनकी ओर देख रहे हैं।

"...भगवन्तं पीतवर्णं अर्द्धचन्द्राङ्कितजटामकुटिनं अमिताभोपलक्षितशिरः प्रदेशं रक्तपद्मोपरिस्थितं कृष्णसारहरिणचर्मणि वज्रपर्यङ्किनं समाधिमुद्रोपरि नानारत्नपरिपूर्णकपाल-धारिणं ...व्याघ्रचर्माम्बरधरं निराभरणं नीलकण्ठं नीलगुलिकाविशिष्टकण्ठं ...।"

(साधनमाला, साधन सं० 39, पृ० 86)

---

1. द्र०-'तन्त्रयान आर्ट', पृ० XXIX, एस० के सरस्वती, इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, भट्टाचार्य, पृ० 178

5. पद्मनर्तेश्वर लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 30, 31, 32) में पद्मनर्तेश्वर(पद्मपाणि) का तीन प्रकार से वर्णन किया गया है—

(1) ये रक्तवर्ण, अष्टादशभुज, एकमुख तथा अर्द्धपर्यङ्क नृत्यमुद्रा में हैं। इनके सभी हस्त पद्मयुक्त हैं। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित हैं।

"...पद्मनर्तेश्वराम्नायेनार्यावलोकितेश्वर...एकमुखं अष्टादशभुजमर्द्धपर्यङ्किनं अमिताभजटामुकुटमण्डलं सर्वकरैर्विश्वपद्मधारिणम्।" (साधनमाला, साधन सं० 32, पृ० 77)

(2) ये रक्तवर्ण, द्विभुज, सूचीमुद्रा में अपनी शक्ति के साथ हैं। इनके दाहिने हाथ में पद्म, मुकुट में ध्यानी बुद्ध अमिताभ तथा वामपार्श्व में आलिङ्गनमुद्रा में पाण्डरा-वासिनी हैं।

"पद्मनर्तेश्वर...द्विभुजैकमुखं रक्तं सकलालंकारधरं अमिताभमुकुटं वामपार्श्वे पाण्डरवासिनीसमाश्लिष्टं आलिङ्गनाभिनयस्थितवामभुजेन रक्तपद्मधरं नर्तनाभिनयेन सूची-मुद्रया...।" (साधनमाला, साधन सं० 30, पृ० 75)

(3) ये अष्टभुज, रक्तवर्ण, एकमुख तथा त्रिनेत्र सर्पयज्ञोपवीत से अलंकृत, अर्द्ध-पर्यङ्कनृत्यमुद्रा में हैं।

"पद्मनर्त्तेश्वरं रक्तवर्णमेकमुखं जटामुकुटिनं त्रिनेत्रं अष्टभुजं सर्वालङ्कारभूषितं सर्पयज्ञोपवीतमर्द्धपर्यङ्केन ताण्डवम् ...।" (साधनमाला, साधन सं० 31, पृ० 76)

6. प्रेतसन्तर्पित लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 43) में यह श्वेतवर्णी तथा षड्भुजी है। ये प्रथम दो हाथ वरदमुद्रा, द्वितीय दो हाथ में रत्न, पुस्तक तथा तृतीय दो हाथ में अक्षमाला व त्रिदण्ड लिए होते हैं। ये सभी अलङ्कारों से विभूषित अक्षसूत्र को धारण किये हुए हैं।

प्रेतसन्तर्पित लोकेश्वर की एक मूर्ति इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता में है, यह षड्भुजी है। ये सामान्य रूप से वस्त्र एवं आभूषण धारण किये हुए हैं। इनके जटामुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। ये दायें हाथों में से निचले हाथ वरदमुद्रा, मध्य के हाथ में रत्न

तथा ऊपरी हाथ में अक्षमाला लिये हुए हैं। बायें हाथों में से निचले हाथ में कमण्डल, मध्य के हाथ में पुस्तक तथा ऊपरी हाथ में कमलपुष्प लिये हुए हैं।

('तन्त्रयान आर्ट', पृ० XXXII, एस० के० सरस्वती)

"श्वेतह्रीःकारोद्भूतं जटामकुटिनं षड्भुजं प्रथमभुजद्वयेन वरदौ द्वितीयभुजद्वयेन रत्नपुस्तकौ तृतीयभुजद्वयेन अक्षमालात्रिदण्डिकं सर्वालङ्कारभूषितं व्रत(अक्ष)सूत्रधारिणं सौम्यमूर्त्तिं पद्मोपरिचन्द्रमण्डले स्थितं श्वेतवर्णं भावयेत्।" (साधनमाला, साधन सं० 43, पृ० 89)

7. मायाजालक्रमक्रोधावलोकितेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 40) में यह नीलवर्णी, पाँचमुखी, द्वादशभुजी तथा प्रत्यालीढ मुद्रा में है। इनके दक्षिण हस्त में डमरु, खट्वाङ्ग, पाश, अङ्कुश, वज्र एवं बाण हैं तथा वाम हस्त में तर्जनी, कपाल, रक्तपद्म(कमल), मणि, चक्र एवं धनुष होते हैं। इनके शरीर के सभी अंग सुन्दर, नग्न तथा मुण्डमाला से अलंकृत होते हैं। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित है।

"भगवन्तमार्यावलोकितेश्वरं कृष्णवर्णं प्रत्यालीढस्थं सूर्यमण्डलस्थितं पञ्चमुखं त्रिनेत्रं द्वादशभुजं सितरक्तदक्षिणमुखद्वयं तथा पीतहरितवाममुखद्वयं दक्षिणभुजैः डमरु-खट्वाङ्गाङ्कुशपाशवज्रशशधरं वामभुजैस्तर्जनीकपालरक्तकमलमणिचक्रचापधरं... षण्मुद्रोपेतं सार्द्रमुण्डमालालङ्कृतशरीरं नग्नं सर्वाङ्गसुन्दरम्।" (साधनमाला, साधन सं० 40, पृ० 86)

8. रक्तलोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 37-38) में यह रक्तवर्णी, द्विभुजी व चतुर्भुजी है।

द्विभुज रूप में यह बायें हाथ में रक्त पद्म धारण किये हुए हैं तथा दक्षिण पार्श्व में ये रक्त वर्ण की देवी तारा तथा भृकुटी सहित स्थित हैं। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित हैं और ये विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों से विभूषित है।

चतुर्भुज रूप में यह अपने हाथों में पाश, अंकुश, धनुष तथा बाण लिए हुए हैं।

"...दक्षिणोत्तरपार्श्वे ताराभृकुटीदेवीद्वयसहितं आर्यावलोकितेश्वरभट्टारकं रक्तवर्णं रक्तमाल्याम्बरानुलेपेन पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरं चतुर्भुजं शृङ्गारैकरसं ...।"

(साधनमाला, साधन सं० 37, पृ० 83)

"आर्यावलोकितेश्वरं ...रक्तवर्णं अमिताभगर्भजटामकुटधरं वामकरगृहीतरक्तपद्मं ...दक्षिणकरेण विकाशयन्तं विविधालङ्कारवस्त्रविभूषितम् ...।"

(साधनमाला, साधन सं० 38, पृ० 84)

9. लोकनाथ लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 8, 18, 19) में लोकनाथ लोकेश्वर के दो हाथ हैं। दक्षिण हस्त वरदमुद्रा में और वाम हस्त सनाल कमल पुष्प को पकड़े हुए हैं। ये श्वेतवर्णी तथा वरदमुद्रा में हैं। इनके वाम हस्त में पद्म होता है, ललितमुद्रा में आसीन लोकनाथ के दक्षिण पार्श्व में वरदमुद्रा में पद्मधारिणी तारा तथा इनके वामपार्श्व में हयग्रीव हैं। खसर्पणलोकेश्वर और लोकनाथ लोकेश्वर में विभेदगत अन्तर यही है कि खसर्पण के साथ तारा और हयग्रीव के अतिरिक्त सुधन कुमार और भृकुटी होते हैं, जबकि लोकनाथ के साथ मात्र तारा और हयग्रीव होते हैं। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित हैं।

"लोकनाथं जटामकुटधरं शान्तं चन्द्रांशुमिव निर्मलं सर्वालङ्कारभूषितं वामेन पद्मधरं दक्षिणे वरदं पद्मचन्द्रासनस्थं भावयेत्। हस्तद्वयेन मुष्टिं कृत्वा मध्यमपद्मसंकोचमिव अनया मुद्रया मुद्रयेत्।" (साधनमाला, साधन सं० 8)

"..................लोकनाथं शशिप्रभम् ।
वरदं दक्षिणे हस्ते वामे पद्मधरं तथा ॥
ललिताक्षेपसंस्थं तु महासौम्यं प्रभास्वरम् ।
वरदोत्पलकरा सौम्या तारा दक्षिणतः स्थिता ॥
.........................हयग्रीवोऽथ वामतः ।" (साधनमाला, सा० सं० 18)

10. वज्रधर्म अवलोकितेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 10) में वज्रधर्म अवलोकितेश्वर के रूप में ये रक्तिम-श्वेतवर्णी है तथा इनके मुकुट पर पञ्च ध्यानी बुद्ध अंकित हैं और नेत्र से प्रसन्नता का प्रकाश निकल रहा है। बायें हाथ में ये सनाल कमल पुष्प लिये हुए हैं। दायें हाथ से ये हृदयस्थल(वक्षस्थल) के निकट पद्म पुष्प को पकड़े हुए हैं। ये मयूर के ऊपर चन्द्रमण्डल पर आसीन हैं।

"तं सितं रक्तवर्णं तु पद्मरागसमद्युतिम् ।
पञ्चबुद्धमकुटधरं हर्षेणोत्फुल्ललोचनम् ।

वामतो स्पर्द्धया नालं धृत्वा षोडशपत्रकम् ॥
पद्मं विकाशयन्तं च हृदि दक्षिणपाणिना ।
मयूरोपरि मध्यस्थे निषण्णं चन्द्रमण्डले ॥''

(साधनमाला, साधन सं० 10, पृ० 33)

11. षडक्षरी लोकेश्वर[1]

अवलोकितेश्वर अपने षडक्षरी रूप में छह अक्षरों वाले मन्त्र 'ॐ मणिपद्मे हूँ' के अवतार माने जाते हैं। ये अपने मण्डल में दायीं ओर मणिधर व बायीं ओर षडक्षरी महाविद्या के साथ होते हैं। साधनमाला (साधन सं० 6) में ये अनेक वस्त्राभूषणों से अलंकृत हैं। ये श्वेतवर्णी एवं चतुर्भुजी हैं। इनके वाम हस्त में पद्म तथा दक्षिण हस्त में अक्षमाला है। अन्य दो हाथ अंजलिमुद्रा में आबद्ध हैं। इनके दक्षिण पृथक् पद्मासन पर मणिधर तथा वाम षड्क्षरी महाविद्या होती है। इनके मुकुट पर अमिताभ ध्यानी बुद्ध अंकित हैं।

''...लोकेश्वररूपं सर्वालङ्कारभूषितं शुक्लवर्णं चतुर्भुजं वामतः पद्मधरम्, दक्षिणतो अक्षसूत्रधरम्, अपराभ्यां हस्ताभ्यां हृदि संपुटाञ्जलिस्थितं ध्यायात्। दक्षिणे मणिधरं तद्वर्णं भुजान्वितं पद्मान्तरोपरिस्थितं वामे तथैव अपरपद्मस्थां षडक्षरीं महाविद्याम्।''

(साधनमाला, साधन सं० 6, पृ० 27)

12. सिंहनाद अवलोकितेश्वर[2]

महायान ग्रन्थों में सिंहनाद को सर्वरोगहर्ता कहा गया है। अवलोकितेश्वर का यह लोकप्रिय रूप है। ये श्वेतवर्णी, त्रिनेत्री तथा सिंह पर महाराजलीलामुद्रा में आसीन, जटामुकुट धारण किये हुए हैं। ये आभूषणों से रहित व व्याघ्रचर्म धारण किये हुए हैं। इनके दाहिनी ओर श्वेत त्रिशूल, जिस पर श्वेत सर्प लिपटा हुआ है तथा बायीं ओर पद्म पर रखा खड्ग अग्नि ज्वाला के समान दीप्त है। इनका वाहन सिंह है।

''सिंहनादं लोकेश्वररूपं ...श्वेतवर्णं त्रिनेत्रं जटामुकुटिनं निर्भूषणं व्याघ्रचर्मप्रावृतं सिंहासनस्थं महाराजलीलं चन्द्रासनं चन्द्रप्रभं भावयेत्। दक्षिणे सितफणिवेष्टितं त्रिशूलं

---

1. द्र०-साधनमाला, साधन सं० 6, 7, 11, 12
2. द्र०-साधनमाला, साधन संख्या 17, 20, 22, 25

श्वेतम्, वामे नानासुगन्धिकुसुमपरिपूरितपद्मभाजनं, वामहस्तादुत्थपद्मोपरि ज्वलत्खड्गं स्वकाये पञ्चतथागतं स्फुरन्तं ...।'' (साधनमाला, साधन सं० 25)

13. सुखावती लोकेश्वर

यह श्वेत(शुक्ल)वर्णी, त्रिमुखी व षड्भुजी हैं। इनके दायें हाथों में पहला बाण, दूसरा अक्षमाला, तीसरा वरदमुद्रा तथा बायें हाथों में पहला धनुष, दूसरा पद्म एवं तीसरा तारा की जंघा को स्पर्श किये हुए हैं। ये कमल पर ललितासनमुद्रा में आसीन हैं तथा वज्रतारा, विश्वतारा, पद्मतारा आदि देवियों से परिवृत हैं। इनके मुकुट पर अमिताभ ध्यानीबुद्ध अंकित हैं।

''त्रिमुखः श्वेतवर्णः, षड्भुजः दक्षे मुद्राः शरक्षेपजपमालावरदानि वामेषु धनुः कमलतारोरुसमर्पणानि ललितासनः कमलोपरि...।'' (धर्मकोशसंग्रह, पण्डित अमृतानन्द, इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, भट्टाचार्य उद्धृत, पृ० 50)

14. सुगतिसंदर्शन लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 42) में सुगतिसंदर्शन लोकेश्वर के इस रूप का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है—ये श्वेतवर्णी तथा षड्भुजी हैं। दायें के तीन हाथों में वरदमुद्रा, अभयमुद्रा तथा अक्षमाला हैं। बायें के तीन हाथों में पद्म, कुण्डी तथा त्रिदण्डी हैं। वे रत्नजटित आभूषण तथा व्रतसूत्र धारण किये हुए हैं।

''सुगतिसन्दर्शनलोकेश्वरभट्टारकं शुक्लवर्णं षड्भुजं वरदाभयाक्षमालाधरं दक्षिणे वामे पद्मकुण्डीत्रिदण्डीधरं च रत्नाभरणभूषितं व्रतसूत्रधारिणं जटामुकुटं पद्मोपरिचन्द्रमण्डल-स्थितम्।'' (साधनमाला, साधन सं० 42, पृ० 88)

15. हरिहरिहरिवाहनावलोकितेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 33-34) में इनका विचित्र रूप है। इसमें सबसे नीचे सिंह (हरि), उसके ऊपर गरुड़ (हरि) तथा गरुड़ पर विष्णु (हरि) शंख, चक्र, गदा व पद्म युक्त है। विष्णु के कन्धे पर लोकेश्वर आसीन हैं। त्रिहरि के ऊपर षड्भुज लोकेश्वर हैं। ये शुक्ल वर्ण हैं। इनके दाहिने हाथों में पहले एक हाथ से भगवान् तथागत को साक्षी बनाने की मुद्रा, दूसरे अन्य हाथ में अक्षमाला तथा तीसरे हाथ से भ्रमित जनों को उपदेश देते हुए

प्रतीत होते हैं तथा बायें हाथों में पहले एक हाथ में दण्ड, दूसरे हाथ में कृष्णाजिन तथा तीसरे हाथ में कमण्डलु लिये हुए हैं।

"हरिहरिहरिवाहनोद्भवं भगवन्तमार्यावलोकितेश्वरं सर्वाङ्गशुक्लं जटामकुटिनं शान्तवेषम्, दक्षिणकरेण भगवन्तं तथागतं साक्षिणं कुर्वन्तम्, द्वितीयेन अक्षमालाधारिणम्, तृतीयेन दुःकुहकं लोकमुपदेशयन्तम्, वामेन दण्डधरम्, द्वितीयेन कृष्णाजिनधरम्, तृतीयेन कमण्डलुधरं सिंहगरुड़विष्णुस्कन्धस्थितम्।" (साधनमाला, साधन सं० 33, पृ० 77)

"...षड्भुजं शुक्लवर्णं जटामुकुटिनं शान्तवेशं दक्षिणकरेण सम्बुद्धं साक्षिणं कुर्वन्तं द्वितीयेनाक्षमालाधरं तृतीयेन दुर्गतिस्थितलोकं शुभमुपदेशयन्तं, वामेन दण्डधरं द्वितीयेन कृष्णाजिनधरं तृतीयेन कमण्डलुधरम् ...।" (साधनमाला, साधन सं० 34, पृ० 78-79)

16. हलाहल लोकेश्वर

साधनमाला (साधन सं० 27, 28, 29) में यह देवता श्वेतवर्णी, त्रिनेत्री, त्रिमुखी, षड्भुजी एवं आसनमुद्रा में है। दायें हाथों में वरदमुद्रा, अक्षसूत्र व बाण (शर) लिए हुए है बाएं हाथों में धनुष, पुण्डरीक व अपनी बायीं जांघ पर बैठी शक्ति का वक्षस्थल स्पर्श किये हुए है। उनकी शक्ति के दो हाथ हैं—बायां हाथ पद्म को पकड़े हुए है व दायां हाथ देवता का आलिङ्गन किये हुए है। इस देवता के दायें व बायें त्रिशूल हैं, जिन पर सर्प लिपटे हुए हैं तथा कमल हैं, जिन पर कपाल रखा है। इनके मुकुट पर अमिताभ ध्यानीबुद्ध अंकित हैं।

"..........................हलाहलं महाकृपम् ।
त्रिनेत्रं त्रिमुखं चैव जटामकुटमण्डितम् ॥
प्रथमास्यं सितं नीलदक्षिणं वामलोहितम् ।
शशाङ्कार्द्धधरं मूर्द्ध्नि कपालकृतशेखरम् ॥
जटान्तःस्थजिनं सम्यक्सर्वाभरणभूषितम् ।
षड्भुजं स्मेरवक्त्रं च व्याघ्रचर्माम्बरप्रियम् ॥
वरदं दक्षिणे पाणौ द्वितीये चाक्षमालिकम् ।
तृतीये शरनर्त्तनं च वामे चापधरं तथा ।
द्वितीये सितपद्मं च तृतीये स्तनमेव च ॥..."

"वामजानुना सितां स्वाभदेवीं दधानं। वामेन कमलधरां दक्षिणेन भुजेन भगवदालिङ्गनपरां कुसुमशोभितजटाकलापाम्। दक्षिणपार्श्वे सर्पवेष्टितं त्रिशूलं वामपार्श्वे पद्मस्थकपालं नानासुगन्धिकुसुमैः सम्पूर्णम्।" (साधनमाला, साधन सं० 27, पृ० 65-66)

हलाहलरूपम्—

"शशाङ्ककोटिसंसृष्टं जटामकुटधारिणम् ।
सितारविन्दनिर्भासं नीलकण्ठं त्रिनेत्रकम् ॥
महापन्नगसमुद्धृतरक्तपद्मोपरिस्थितम् ।
रत्नाचलगुहान्तःस्थं व्याघ्रचर्माम्बरसुवाससम् ॥
पर्यङ्केन समाधिस्थं चतुर्भुजविराजितम् ।
कुण्डिकाक्षधरं वीरं अमिताभकृतशेखरम् ॥
त्रिशूलमूर्ध्वखट्वाङ्गं कुलिकाबद्धयष्टिकम् ।
चिन्तयेत् तस्य वामेन दक्षिणेन कपालकम् ॥
कुसुमपरिपूर्णं कुलिकं च कृतफणं भगवन्तमवलोकयन्तम्।"

(साधनमाला, साधन सं० 28, पृ० 68)

•

बौद्धेतर तन्त्रों में गुरु-शिष्य विमर्श

—बनारसी लाल—

[धी: के पूर्व अंकों (37 एवं 38) में बौद्धतन्त्रों में प्रतिपादित गुरु एवं शिष्य के स्वरूप, लक्षण एवं गुणों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया था। उसी सातत्य में प्रस्तुत अंक में बौद्धेतर शैव, शाक्त, कौल आदि तन्त्रों में वर्णित गुरु एवं शिष्य का लक्षण, गुरु शब्द की व्युत्पत्ति, स्वरूप, शिष्य का आचरण, गुरु का माहात्म्य इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जा रहा है।]

विश्व में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा ही है, जहाँ गुरु को भगवान् से उच्च स्थान दिया गया है। भारतीय संस्कृति में चाहे ब्राह्मण परम्परा हो या श्रमण, दोनों ही धाराओं में गुरु का सर्वातिशायी महत्त्व स्वीकार किया गया है। चाहे प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी हों या निवृत्ति मार्ग के, गृहस्थ हों या संन्यासी सभी के लिए ज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने का एक मात्र साधन गुरु है। इसीलिए जहाँ बौद्ध परम्परा में गुरु को त्रिरत्नों (बुद्ध, धर्म और संघ) से भी श्रेष्ठ माना गया है। वहीं बौद्धेतर शैवादि परम्पराओं में गुरु को साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर स्वरूप ही माना गया है। इसीलिए शैव परम्परा में गुरु और शिष्य में कोई भेद नहीं किया गया है, ''गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देव: सदाशिव:''। शैव ग्रन्थों में प्राय: शिव-शक्ति सामरस्यमय परम शिव को ही गुरु माना गया है। वहीं अद्वैतवादी शैव-शाक्त मत में भी गुरु को परम शिव अथवा परासंवित् स्वरूप स्वीकार किया गया है। गुरु के श्रेष्ठत्व को स्वीकार करते हुए बृहत् तन्त्रसार में ज्ञानार्णव को उद्धृत करते हुए तथा रुद्रयामल[1] कुलार्णव[2] इत्यादि में कहा है कि इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि कभी भी गुरु को शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न हों क्योंकि भगवान् के रुष्ट हो जाने पर तो रक्षक और त्राता गुरु होता है, परन्तु यदि गुरु रुष्ट हो जाए तो उससे रक्षा करने वाला कोई नहीं होता—

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥ (बृ० तं० सा० 1.8)

बौद्ध एवं बौद्धेतर तन्त्रों में गुरु एवं शिष्य का लक्षण, गुरु का स्वरूप, प्रकार, शिष्य का लक्षण, गुरु की महिमा, शिष्य का आचरण एवं कर्तव्य, गुरु-शिष्य परीक्षा इत्यादि

---

1. रुद्रयामलम् - 2.66
2. कुलार्णव - 12.49

अनेक विषयों का वर्णन रहता है। इस पत्रिका के पूर्व अंकों (37 एवं 38वें) में बौद्धतन्त्रों में प्रतिपादित गुरु-प्रत्यय एवं शिष्य की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया था। उसी सातत्य में बौद्धेतर तन्त्रों में आए गुरु एवं शिष्य का स्वरूप, लक्षण, भेद एवं माहात्म्य इत्यादि विषयों पर यहाँ चर्चा की जा रही है।

गुरु के पर्याय शब्द

गुरु के स्वरूप एवं लक्षण तथा कार्य के आधार पर गुरु के पर्याय रूप में आचार्य, उपाध्याय, देशिक, स्वामी, महेश्वर, नाथ, देव, भट्टारक, प्रभु, योगी, संयमी, अवधूत, वीर, कौलिक इत्यादि शब्द भी व्यवहृत मिलते हैं।

गुरु शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति

'गुरु' शब्द की अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं, जैसे ''गिरति अज्ञानम् इति गुरुः'' अर्थात् जो अज्ञान को दूर करता है, वह गुरु होता है। ''गृणाति धर्मम् इति गुरुः'' अर्थात् जो धर्म का उपदेश प्रदान करता है, वह गुरु होता है। ''गीर्यते इति गुरुः'' अर्थात् जिसकी स्तुति या प्रशंसा की जाती है, उसे गुरु कहा जाता है। सामान्यतः गुरु शब्द का अर्थ अज्ञान को हटाने वाला या धर्म का उपदेश प्रदान करने वाला होता है। कृष्णानन्द आगमवागीश अपने बृहत् तन्त्रसार में गुरुशब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में तन्त्रार्णव को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि 'गुरु' शब्द में तीन वर्ण हैं, उनमें गकार का अर्थ है सिद्धिदाता, रेफ को पाप का नाशक बतलाया गया है तथा उकार साक्षात् शम्भु हैं। तीनों का एकत्र समावेश होने से गुरु सर्वोपरि है—

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः ॥[1] (बृ० तं० सा० 1.46)

पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गकार ज्ञान सम्पत्ति दाता है, रेफ पाप का दाहक और उकार से शिव का तादात्म्य प्रदान करने के कारण गुरु कहा जाता है—

गकाराज्ज्ञानसम्पत्ति रेफः पापस्य दाहकः ।
उकाराच्छिवतादात्म्यं दद्यादिति गुरुः स्मृतः ॥[2] (बृ० तं० सा० 1.47)

1. द्रष्टव्य-कुलार्णवतन्त्र - 17.8
2. द्र०-कुलार्णवतन्त्र - 17.9

वहीं आगमशास्त्रों के अनुसार भी गुरु के इन तीन वर्णों की व्याख्या करते हुए इन्हीं भावों को स्पष्ट किया है। वहाँ शिव के स्थान पर विष्णु को ग्रहण करते हुए उकार से अव्यक्त विष्णु को ग्रहण किया है, 'उकार विष्णुरव्यक्त:'।

'गुरु' शब्द में 'गु' वर्ण अन्धकार का द्योतक है और 'रु' शब्द उस अन्धकार को नाश करने वाला। यत: गुरु शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करता है और ज्ञान का प्रकाश फैलाता है, अत: अज्ञान रूपी अन्धकार को नाश करने के कारण ही गुरु शब्द की सार्थकता है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥[1] (बृ० तं० सा० 1.48)

गुरु शब्द का विग्रह करते हुए शिवपुराण में कहा है कि जो पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने पास आए हुए शिष्य के सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों और उनके विकारों को विनष्ट करके, उसके हृदयाकाश में पूर्ण पर-ब्रह्म की अखण्ड ज्योति को जला देने में समर्थ होता है, वह गुरु कहलाने का अधिकारी होता है। जो अपने शरण में आए शिष्य के त्रिगुणों के प्रवाह को रोककर, उसके संसार में आवागमन की प्रक्रिया को सर्वदा के लिए समाप्त कर देता है और उसे मुक्ति के लोक में बिठा देता है, उसे गुरु कहा जाता है। गुरु स्वयं गुणातीत और शिवरूप होता है।

गुणान् रुन्ध इति प्रोक्तो गुरुशब्दस्य विग्रहः ॥
सविकारान् रजसादीन् गुणान् रुन्धे व्यपोहति ।
गुणातीतः परशिवो गुरुरूपं समाश्रितः ॥ (शि०पु० 1.8.83-84)

गुणत्रयं व्यपोह्याग्रे शिवं बोधयतीति सः ।
विश्वस्तानां तु शिष्याणां गुरुरित्यभिधीयते ॥[2]

गुरु का लक्षण

मनुस्मृति में गुरु, उपाध्याय और आचार्य का स्वरूप एवं लक्षण बतलाते हुए गुरु के सम्बन्ध में कहा कि जो गर्भाधान आदि संस्कारों को विधिपूर्वक सम्पन्न करता है वह

1. द्र०-कुलार्णवतन्त्र - 17.7
2. उद्धृत 'सोऽहम् सन्देश', पृ० 36

तो पिता है परन्तु अन्न दानादि के द्वारा पालन-पोषण करने वाले ब्राह्मण को गुरु कहा जाता है—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ (मनु० स्मृ० 2.142)

गुरु का लक्षण बतलाते हुए कुलार्णवतन्त्र में कहा है जो गुह्य आगम आत्म तत्त्व में सन्नद्ध है, उसे जानते हैं और जो रुद्र आदि देव स्वरूप है, वह गुरु है—

गुह्यागमात्मतत्त्वार्थसन्धानाद् बोधनादपि ।
रुद्रादिदेवस्वरूपत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ (कु० तं० 17.10)

आचार्य का लक्षण बतलाते हुए मनुस्मृतिकार कहते हैं कि जो ब्राह्मण, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प और रहस्यों (उपनिषदों) सहित वेद शास्त्र को पढ़ावे, उसे आचार्य कहते हैं।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनु० स्मृ० 2.140)

आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ करते हुए कुलार्णवतन्त्र में कहा है जो स्वयं आचरण करते हुए और शिष्यों को भी आचार में स्थापित करता है और शास्त्र के अर्थों का चयन करता है, इसलिए उसे आचार्य कहा जाता है। जो चराचर प्राणियों को स्वयं अध्यापन करता है और यम नियम आदि योग सिद्ध होने से उसे आचार्य कहा जाता है—

स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि ।
आचिनोतीह शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन कथ्यते ॥

चराचरसमासन्नमध्यापयति यः स्वयम् ।
यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते ॥ (कु० तं० 17.10-11)

उपाध्याय का भी लक्षण बतलाते हुए मनुस्मृति में कहा है, जो ब्राह्मण वेद के एक देश (मन्त्र और ब्राह्मण) का तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्दशास्त्र) को जीविका के लिए पढ़ाता है; उसे उपाध्याय कहते हैं—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ (मनु० स्मृ० 2.141)

आगमसंहिता को उद्धृत करते हुए बृहत् तन्त्रसार में कहा है कि जो उद्धार और संहार करने में समर्थ उत्तम ब्राह्मण हो, तपस्वी हो, सत्यवादी हो, यदि ऐसा गृहस्थ भी हो तो उसे गुरु कहा जाता है—

उद्धर्तुं चैव संहर्त्तुं समर्थो ब्रह्मणोत्तमः ।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥ (बृ० तं० सा० 1.5)

गुरु के लक्षण एवं गुणों का संग्रह करते हुए कृष्णानन्द उद्धृत करते हैं—

शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान् ।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान् ॥

आश्रमी ध्याननिष्ठश्च तन्त्रमन्त्रविशारदः ।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते ॥[1] (बृ० तं० सा० 1.4-5)

गुरु को शान्त अर्थात् मन को निग्रह से युक्त, दान्त अर्थात् इन्द्रियों को दमन करने वाला, कुलीन, विनीत, शुद्ध वेषधारी होना चाहिए। उसका आचरण शुद्ध अर्थात् सभी प्रकार के निन्दनीय कर्म एवं आचरणों से मुक्त होना चाहिए। अच्छी प्रतिष्ठा वाला, पवित्र, दक्ष और बुद्धिमान् पुरुष ही गुरु पद का अधिकारी होता है। उसे आश्रम में निवास करने वाला, सदा ध्यान में रत रहने वाला, तन्त्र एवं मन्त्र के तत्त्वों में विशारद होना चाहिए। सभी प्रकार के निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ को ही गुरु कहा जाता है। रुद्रयामल[2] में इसके आगे गुरु के गुणों एवं लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है कि उसे रोग से रहित, अहङ्कार से रहित, पण्डित, वाक्पति, लक्ष्मीवान् तथा यज्ञ के विधि-विधान को जानने वाला होना चाहिए। गुरु को नित्य पुरश्चरण करने वाला, हित और अहित से दूर तथा सिद्ध

---

1. द्र०-रुद्रयामलम् - 2.51-52
2. निरोगी निरहङ्कारो विकाररहितो महान् ।
   पण्डितो वाक्पतिः श्रीमान् सदा यज्ञविधानकृत् ॥
   पुरश्चरणकृत् सिद्धो हिताहितविवर्जितः ।
   सर्वलक्षणसंयुक्तो महाजनगणादृतः ॥
   प्राणायामादिसिद्धान्तो ज्ञानी मौनी विरागवान् ।
   तपस्वी सत्यवादी च सदा ध्यानपरायणः ॥
   आगमार्थविशिष्टज्ञो निजधर्मपरायणः ।
   अव्यक्तलिङ्गचिह्नस्थो भावको भद्रवान् ॥
   लक्ष्मीवान् धृतिमान्नाथो गुरुरित्यभिधीयते । (रुद्र० 2.53-57)

महात्माओं के सभी लक्षणों से युक्त होना चाहिए। उसे सत्यवादी तथा सदा ध्यान परायण होना चाहिए। सभी आगमों को जानने वाला, सत्पात्र को दान देने वाला एवं धैर्यवान् होना चाहिए।

तन्त्रराजतन्त्र में गुरु के लक्षणों का निरूपण करते हुए कहा है कि गुरु को सुन्दर, सुमुख, स्वच्छ, सुलभ अर्थात् किसी भी समय उपलब्ध हो सकने वाला तथा बहुत से तन्त्रों को जानने वाला होना चाहिए। गुरु को संशयविहीन तथा शिष्य का संशय उच्छिन्न करने वाला होना चाहिए। निरपेक्ष अर्थात् किसी का पक्ष न लेने वाला होना चाहिए। इन गुणों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सुन्दरता का तात्पर्य दोष रहित रूप से है। सुमुख अर्थात् देखने में भी रूप अच्छा हो। स्वच्छ से तात्पर्य उसकी जीविका ईमानदारी की होना चाहिए। सुलभ का तात्पर्य है उसमें किसी प्रकार का गर्व या अहङ्कार नहीं होना चाहिए। तत्त्वज्ञान में असंशय होकर उसके प्रतिपादन में समर्थ तथा निरपेक्षता का तात्पर्य है वित्त आदि की अपेक्षा न करने वाला।

सुन्दरः सुमुखः स्वच्छः सुलभो बहुतन्त्रवित् ।
असंशयः संशयच्छिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः ॥

सौन्दर्यमनवद्यत्वं रूपे सौमुख्यता पुनः ।
स्मेरपूर्वाभिभाषित्वं स्वच्छताऽजिह्मवृत्तिता ॥

सौलभ्यमप्यगर्वित्वं सन्तोषो बहुतन्त्रता ।
असंशयस्तत्त्वबोधे तच्छक्तिप्रतिपादनात् ॥

नैरपेक्ष्यमवित्तेच्छा गुरुत्वं हितवादिता ।
एवं विधो गुरुर्ज्ञेयस्त्वितरः शिष्यदुःखदः ॥ (तं० रा० तं० 1.19.22)

कुलार्णवतन्त्र के तेरहवें उल्लास में गुरु और शिष्य के लक्षण, गुण इत्यादि का विस्तार से उल्लेख किया है। वहाँ गुरु के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है कि गुरु को सभी आगमों का ज्ञाता होना चाहिए। लोगों को सम्मोहित करने की शक्ति तथा देवताओं की तरह प्रियदर्शी होना चाहिए। तन्त्रराजतन्त्र की भाँति ही यहाँ भी बतलाया गया है कि गुरु को सुमुखी, सुलभ, स्वच्छ तथा भ्रम एवं संशय का नाश करने वाला होना चाहिए। उसे इंगित करने मात्र से जानने वाला, प्रज्ञावान्, अन्तर्मुखी, निग्रह और अनुग्रह करने में सक्षम, सर्वज्ञ, देश-काल का ज्ञाता, त्रिकालज्ञ और शान्त होना चाहिए। उसे सभी जीवों

पर दया करने वाला, इन्द्रियों को अपने अधीन रखने वाला, अत्यन्त गम्भीर, षड् वर्गों पर विजय प्राप्त करने में सक्षम, सदा आगे रहने वाला, पात्र और अपात्र की विशेषता को जानने वाला तथा भगवान् के समान् सम दृष्टि वाला होना चाहिए। उसे सदा निर्मल, सदा सन्तुष्ट रहने वाला तथा मन्त्रशक्ति से समन्वित होना चाहिए। उसे भक्तों पर कृपा रखने वाला, धीर, कृपालु और उसकी वाणी स्मित हास्य से युक्त होनी चाहिए। गुरु को अपने भक्तों पर प्रिय दृष्टि रखने वाला, सदा गम्भीर और उदार दृष्टि वाला होना चाहिए। उसे अपने इष्टदेवों, गुरुज्येष्ठों और वनिताओं की पूजा करने में उत्सुक रहने वाला होना चाहिए। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों तथा अनिन्दित कर्मों में सदा रत रहने वाला तथा उसे राग, द्वेष, मोह, भय, अहंकार, दम्भ आदि से मुक्त होना चाहिए। अपनी विद्या के अनुष्ठान में रत रहते हुए, धर्म एवं पुण्य उपार्जन करने वाला होना चाहिए। उसे जितना मिले उसी से सन्तुष्ट रहने वाला, गुण एवं दोषों को जानने वाला, स्त्री और धन आदि में अनासक्त रहने वाला, दुष्टों का संगति न करने वाला, दुर्व्यसनों से दूर रहने वाला, अलोभी, पक्ष-पात से रहित होना चाहिए। गुरु को विद्वान्, वित्त, विद्या आदि से तन्त्र-मन्त्र आदि का विक्रय न करने वाला, निःसङ्ग, निर्विकल्प और धार्मिक, निन्दा और स्तुति में एक समान रहने वाला इत्यादि गुणों एवं लक्षणों से युक्त होना चाहिए।[1]

---

1. श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः ।
सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वावयवशोभितः ॥
सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वमन्त्रविधानवित् ।
लोकसम्मोहनकरो देववत् प्रियदर्शनः ॥
सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः ।
इङ्गिताकारवित् प्राज्ञ ऊहापोहविदुज्ज्वलः ॥
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित् ।
आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥
वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीवदयापरः ।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारषड्वर्गविजयक्षमः ॥
अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित् ।
शिवविष्णुसमः साधुर्मन्ददर्शनदूषकः ॥
निर्मलो नित्यसन्तुष्टः स्वतन्त्रो मन्त्रशक्तिमान् ।
सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्णवाक् ॥
भक्तप्रियः सदोदारो गम्भीरः शिष्टसाधकः ।
स्वेष्टदेवगुरुज्येष्ठवनितापूजनोत्सुकः ॥
नित्ये नैमित्तिके काम्ये रतः कर्मण्यनिन्दिते ।
रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहङ्कारवर्जितः ॥

कुलार्णवतन्त्र के तेरहवें उल्लास (13.67-89) में बहुत विस्तार से श्रेष्ठ गुरु किसे कहा जाए तथा उसका क्या लक्षण होना चाहिए, का वर्णन किया है। विस्तारभय से उसे यहाँ संक्षेप में निर्देश किया जा रहा है। सभी सिद्धान्तों के सार को जानने वाले को गुरु कहा जाता है। बिना दृश्य के दृष्टि को स्थिर करने वाला, बिना आलम्बन के मन को स्थिर करने वाला और जो बिना आयास के वायु को स्थिर करता है, वह गुरु होता है। जिसने संवित्ति को उत्पन्न कर लिया है, परानन्द को समुत्पन्न कर लिया है और जिसने उस तत्त्व को जान लिया है, वह कुल परम्परा में गुरु होता है। जो भूत और भविष्य को जानता है, वह गुरु होता है। पद, मन्त्र, कला, यन्त्र, तत्त्व के साथ उसके गुणों को धारण करने वाले को गुरु कहा जाता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत इन पाँचों को जानने वाले को गुरु कहा जाता है। जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों को सम्यक् रूप से जानता है उसे गुरु कहा जाता है। जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी, इन चारों को जानता है उसे गुरु कहा जाता है। जो आत्मा, विद्या, शिव और सर्व इन चारों तत्त्वों को जानता है, उसे गुरु कहा जाता है। पाश छेदन, वेध दीक्षा और पशुग्रहण तीनों को जानने वाला परम गुरु होता है। जो आणव, कर्मज और मायीय तीनों प्रकार के मलों का विशोधन करने में समर्थ हो, वह परम गुरु होता है। इस प्रकार अनेक लक्षण परम श्रेष्ठ गुरु के बतलाए गए हैं।

म० म० गोपीनाथ कविराज योगवासिष्ठ को उद्धृत करते हुए अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और साधना' (पृ० 261) में कहते हैं कि शिष्य का उद्धार करने की शक्ति ही गुरु का लक्षण है।

दर्शनात् स्पर्शनाच्छब्दात् कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥ (निर्वाणप्रकरण 1.128.61)

स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मादीनामुपार्जकः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो गुणदोषविभेदकः ॥
स्त्रीधनादिष्वनासक्तो दुःसङ्गव्यसनादिषु ।
सर्वाहम्भावसंयुक्तो निर्द्वन्द्वो नियमव्रतः ॥
अलोलुपो ह्यसङ्कल्पपक्षपाती विचक्षणः ।
वित्तविद्यादिभिर्मन्त्रयन्त्रतन्त्राद्यविक्रयी ॥
निःसङ्गो निर्विकल्पश्च निर्णीतार्थोऽतिधार्मिकः ।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी निरपेक्षो निरामयः ॥
इत्यादिलक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रिये: ॥ (कु० तं० 13.38-50)

अर्थात् जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्शन या शब्द के द्वारा शिष्य के देह में शिव भाव का 'आवेश' करा सकते हैं, वे ही देशिक या गुरु हैं। वहीं नवचक्रेश्वरतन्त्र को उद्धृत करते हुए कहा है जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों को सम्यक् रूप से जानते हैं, वे ही गुरु हैं।

पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम् ।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरुः परिकीर्त्तितः ॥[1]

यहाँ पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत से कुण्डलिनी शक्ति, हंस, बिन्दु और निरञ्जन को गृहीत किया गया है।

गुरु के भेद

मूलतः मूल गुरु एक होने पर भी गुरु में श्रेणी विभाग देखा जाता है। यह भेद गुरु उपदेशों के आधार पर किया जाता है। साथ ही शक्तिपात रूपी उपाय के तीव्रता आदि के भेद से भी अनेक प्रकार के गुरु हुआ करते हैं। शैव, शाक्त एवं कौल परम्पराओं में अनेक प्रकार के गुरुओं का उल्लेख मिलता है। कुलार्णवतन्त्र का कहना है कि शैवों में तीन गुरु, वैष्णवों में पाँच गुरु तथा वेदशास्त्रों में सैकड़ों गुरु हो सकते हैं। परन्तु कुलान्वय अर्थात् कौल परम्परा में एक ही गुरु होता है। एक गुरु का आश्रय लेने के पश्चात् फिर किसी दूसरे गुरु के पास नहीं जाना चाहिए—

शैवे गुरुत्रयं प्रोक्तं वैष्णवे गुरुपञ्चकम् ।
वेदशास्त्रेषु शतशो गुरुरेकः कुलान्वये ॥ (कुलार्णवतन्त्र 13.127)

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार सामान्यतः आचार्य, पिता, ज्येष्ठ बन्धु, राजा, मामा, ससुर, रक्षक, मातामह, पितामह, वर्णज्येष्ठ और चाचा ये ग्यारह भी गुरु होते हैं—

आचार्यश्च पिता ज्येष्ठो भ्राता चैव महीपतिः ।
मातुलश्वसुरस्त्राता मातामह-पितामहौ ।
वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवो मताः ॥ (उद्धृत सोऽहम्, पृ० 42)

कुलार्णवतन्त्र में स्पष्टतः छह प्रकार के गुरुओं का उल्लेख किया गया है—

प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा ।
शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः ॥ (कुलार्णवतन्त्र-13.128)

---

1. द्रष्टव्य-कुलार्णवतन्त्र – 13.76

प्रेरकगुरु—साधक अर्थात् शिष्य के मन को दीक्षा के लिए प्रेरित करने वाला अर्थात् उसे प्रेरणा देने वाला गुरु प्रेरकगुरु कहलाता है।

सूचकगुरु—विविध प्रकार की साधनाओं एवं दीक्षा में भेदाभेदों का निर्देश करने वाले गुरु सूचकगुरु कहलाते हैं।

वाचकगुरु—मात्र साधनाओं को बतलाने वाला या उनकी गणना करने वाले गुरु को वाचकगुरु कहा जाता है।

दर्शकगुरु—साधना और दीक्षा में कौन योग्य है और कौन अयोग्य, इसको दिखलाने वाला गुरु दर्शकगुरु होता है।

बोधकगुरु—साधना और दीक्षा का सम्यक् विवेचन करने वाले गुरु को बोधकगुरु कहा जाता है।

शिक्षकगुरु—साधना का उपदेश देने वाले गुरु को शिक्षकगुरु कहा गया है।

उपर्युक्त छह प्रकार के गुरुओं में बोधक गुरु को सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कौलावलीनिर्णय[1] में भी कुछ नाम भिन्नता के साथ इन्हीं छहों गुरुओं का उल्लेख किया गया है। वहाँ सेवक, प्रेरक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और मोक्षक भेद से छह प्रकार के गुरु बतलाये गए हैं।

सद्गुरु एवं असद्गुरु

म० म० गोपीनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और साधना' (भाग-1, पृ० 253-264) में गुरुतत्त्व और सद्गुरु रहस्य के वर्णन के प्रसङ्ग में सद्गुरु, असद्गुरु, सांसिद्धिक, अकल्पित, अकल्पितकल्पक, कल्पित और कल्पिताकल्पित गुरुओं की चर्चा की है। वहीं उसी प्रसंग में सिद्धगुरु, दिव्यगुरु, ज्ञानी और मानुष गुरुओं का भी उल्लेख किया है। उनका मानना है कि गुरु का प्रकार-भेद ज्ञानेन्द्रिय आदि के प्रणाली भेद के कारण होता है। किसी भी उपाय से या बिना उपाय से भी, ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए।

सद्गुरु का तात्पर्य साक्षात् परमेश्वर से है अर्थात् परमेश्वर ही एकमात्र सद्गुरु हैं या परमेश्वर का पूर्ण अनुग्रह प्राप्त ऐसे जीवनमुक्त अधिकारी पुरुष को भी सद्गुरु कहा जा सकता है। ऐसे अनुग्रह प्राप्त पुरुष देवता, सिद्ध और मानव तीनों हो सकते हैं। इस प्रकार

1. सेवकान् प्रेरकान् वापि वाचकान्दर्शकांस्तथा ।
शिक्षकान् मोक्षकान् वापि योगिनीसिद्धिरूपकान् ॥ (कौलावलीनिर्णय, पृ० 58)

सद्गुरु शब्द का मुख्य प्रयोग प्राय: परमेश्वर या भगवान् के लिए प्राप्त होता है। इसलिए बिना सद्गुरु का आश्रय या अनुग्रह प्राप्त किये जीव को भोग और मोक्ष की एक साथ प्राप्ति नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य है कि पूर्ण सत्य के प्रतिपादक गुरु ही सद्गुरु हैं।

दूसरे प्रकार का गुरु असद्गुरु कहलाता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित किया कि जो सद्गुरु नहीं है अर्थात् गुरु ही नहीं है, तब उसे किसी प्रकार का गुरु का भेद क्यों माना जाए?

कविराज जी ने 'मालिनीविजय' के प्रमाण से बतलाया है कि सद्गुरु और असद्गुरु दोनों के मूल में शिवेच्छा ही मुख्य कारण है। सद्गुरु से भिन्न असद्गुरु का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके, उनके साथ जिनका तादात्म्य नहीं हो पाया है; ऐसे केवल तत्त्व का उपदेश करने वाले गुरु या आचार्य विशेष को असद्गुरु कहा जाता है। कहने का तात्पर्य है कि जिन साधकों के चित्त में इस प्रकार के आचार्य या गुरु के प्रति परम श्रद्धा है, विश्वास है, वे आगमशास्त्रों में प्रतिपादित परामुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि वे माया के राज्य को लांघने में समर्थ नहीं होते। उन्हें जो मुक्ति मिलती है वह वास्तविक मुक्ति नहीं होती। माया से जीवों का उद्धार नहीं कर पाने पर भी ऐसे लोग उच्च लोकों में ऐश्वर्य, अजरत्व, अमरत्व आदि सिद्धियाँ दे सकते हैं, इसलिए इन्हें भी गुरु ही कहा जाता है। परन्तु माया से जीव का उद्धार नहीं कर सकते, अत: इन्हें असद्गुरु कहा जाता है।

'सांसिद्धिक' गुरु उन्हें कहा जाता है जिन्हें स्वत: सत्तर्क अथवा शुद्ध विद्या का उदय होता है। इससे उनके सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और उनमें पूर्ण शिवभाव का आविर्भाव होता है। उन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। इसलिए उनका एकमात्र प्रयोजन दूसरों पर अनुग्रह करना होता है। ये 'सांसिद्धिक' गुरु ही 'अकल्पित' गुरु भी कहे जाते हैं। आगे विस्तार से अकल्पित, अकल्पितकल्पक, कल्पित और कल्पिताकल्पित इन चार प्रकार के गुरुओं के लक्षणों का विस्तार दिया गया है विस्तारभय से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।[1]

कुछ गुरु ऐसे भी होते हैं जो ज्ञान दे सकते हैं, परन्तु भोग या विज्ञान नहीं दे सकते। वे ज्ञान प्रदान कर जीव को माया से मुक्त कर देते हैं, परन्तु विज्ञान के अभाव में अधिकार नहीं पा सकते। ऐसा गुरु ज्ञानी गुरु कहलाता है।

---

1. विस्तार से जानने के लिए देखें—'भारतीय संस्कृति और साधना', भाग-1, पृ० 260-261

वर्ज्य गुरु के लक्षण एवं दोष

तन्त्रशास्त्रों में गुरु के लक्षण एवं गुणों के साथ-साथ उन गुरुओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनका आश्रय शिष्य को नहीं लेना चाहिए। उनके लक्षणों एवं दोषों को दर्शाते हुए उनका परित्याग करने के लिए कहा है। अन्यथा गुरु के साथ-साथ वह शिष्य भी नरकगामी होता है। बृहत् तन्त्रसार में वर्ज्य गुरु अर्थात् निन्द्य गुरु के लक्षणों को इंगित करते हुए क्रियासारसमुच्चय को उद्धृत कर कहा है कि कोढ़ से ग्रस्त, कुष्ठ से गलित अंगों वाले, नेत्र रोगी, बौने, बुरे नख वाले, भूरे दाँत वाले गुरु का परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री के वश में रहने वाले, अधिक एवं हीन अंगों वाले, कपटी, रोगी, अत्यधिक भोजन करने वाले, वाचाल इन दोषों से मुक्त गुरु का सेवन करना चाहिए।

शिवत्री चैव गलत्कुष्ठी नेत्ररोगी च वामनः ।
कुनखी श्यावदन्तश्च स्त्रीजितश्चाधिकाङ्गकः ॥

हीनाङ्गः कपटीरोगी बह्वाशी बहुजल्पकः ।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तो यः स गुरुः शिष्यसम्मतः ॥ (बृ० तं० सा० 1.21-22)

इसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्यों को अभिशप्त, अपुत्रवान्, धूर्त, कपटी, अकर्मण्य, वञ्चक, बौने, अपने गुरु की निन्दा करने वाले, जल एवं रक्त के विकार से ग्रस्त, सदा मत्सर गुरु का परित्याग कर देना चाहिए।

अभिशप्तमपुत्रञ्च कदर्यं कितवं तथा ।
क्रियाहीनं शठञ्चापि वामनं गुरुनिन्दकम् ॥

जलरक्तविकारञ्च वर्जयेन्मतिमान् सदा ।
सदा मत्सरसंयुक्तं गुरुं तन्त्रेण वर्जयेत् ॥ (बृ० तं० सा० 1.23-24)

इसी प्रकार रुद्रयामल में भी विस्तार से वर्ज्य गुरु के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा हैं कि परा तत्त्व के आनन्द से रहित, कुष्ठरोग से पीड़ित, क्रूर कर्म करने वाला, लोगों के द्वारा निन्दित, रोगी गुरु का परित्याग कर देना चाहिए। लोगों की हिंसा करने वाला, आठ प्रकार के कुष्ठ रोग से ग्रस्त, स्वर्ण विक्रेता, चोर, बुद्धिहीन और सुखपूर्वक रहने वाले गुरु पद के अधिकारी नहीं होते। कुलाचार से रहित, अशान्त, कलङ्कयुक्त, नेत्र रोग से पीड़ित, परस्त्री के साथ गमन करने वाला, स्त्रीजित अर्थात् स्त्री के वश में रहने वाला,

असंस्कारी वक्ता एवं अधिक अंग वाला गुरु पद को प्राप्त नहीं कर सकता। कपटी आत्मा वाला, अति वाचाल, हिंसक, अधिक भोजन करने वाला, कृपण तथा असत्य बोलने वाला गुरु पद का अधिकारी नहीं हो सकता। भावत्रय से हीन, पञ्चाचार से विवर्जित, दोष समूहों से युक्त अङ्ग वाले गुरु की पूजा नहीं करनी चाहिए।[1]

गुरु का माहात्म्य

बौद्धेतरतन्त्रों में गुरु की अपरम्पार महिमा गायी गई है। शिष्य रूपी जीव के आध्यात्मिक जीवन की सर्वोत्कृष्टता एवं मुक्ति के लिए गुरु एक ऐसा तत्त्व है जो उसे शिव पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। दूसरे शब्दों में उसे जगत् के बन्धन से मुक्त कर देता है। एक प्रकार से गुरु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में सम्पूर्ण ज्ञान का दाता, कर्म का दाता है। वह अखण्ड सत्य का और धर्म और अधर्म का प्रकाश करने वाला है। इसीलिए उसे परमेश्वर के समान स्वीकार किया गया है। गुरु की महिमा एवं महत्त्व पर तन्त्र ग्रन्थों में बड़े विशद रूप में वर्णन मिलता है। सम्प्रति विस्तारभय से इंगित मात्र किया गया है।

शिष्य का लक्षण एवं गुण

तन्त्र और आगम का उपयुक्त पात्र या अधिकारी शिष्य कैसा हो और उसमें क्या-क्या लक्षण एवं गुण होने चाहिए, इस विषय पर भी तन्त्र और आगम शास्त्रों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कुलार्णवतन्त्र में बहुत ही संक्षेप में शिष्य के स्वरूप को बतलाते हुए कहा है कि जो अपने शरीर, अर्थ और प्राणों को सद्‌गुरुओं को समर्पित कर गुरुओं से योग को सीखता है उसे शिष्य कहा जाता है—

---

1. वर्जयेच्च परानन्दरहितं रूपवर्जितम् ।
कुष्ठिनं क्रूरकर्माणं निन्दितं रोगिणं गुरुम् ॥
अष्टप्रकारकुष्ठेन गलत्कुष्ठिनमेव च ।
श्वित्रिणं जनहिंसार्थं सदार्थग्राहिणं तथा ॥
स्वर्णविक्रयिणं चौरं बुद्धिहीनं सुखर्वकम् ।
श्यावदन्तं कुलाचाररहितं शान्तिवर्जितम् ॥
सकलङ्कं नेत्ररोगैः पीड़ितं परदारगम् ।
असंस्कारं प्रवक्तारं स्त्रीजितं चाधिकाङ्गकम् ॥
कपटात्मानकं हिंसाविशिष्टं बहुजल्पकम् ।
बह्वाशिनं हि कृपणं मिथ्यावादिनमेव च ॥
अशान्तं भावहीनं च पञ्चाचारविवर्जितम् ।
दोषजालैः पूरिताङ्गं पूजयेन्न गुरुं विना ॥

शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेद्य यः ।
गुरुभ्यः शिक्षते योगं शिष्य इत्यभिधीयते ॥ (कुलार्णवतन्त्र 17.30)

बृहत् तन्त्रसार में सामान्य शिष्य का लक्षण बतलाते हुए कृष्णानन्द ने निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है।

शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणाक्षमः ।
समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो यतिः ॥

एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा ।
अन्यच्च पुण्यवान् धार्मिकः शुद्धो गुरुभक्तो जितेन्द्रियः ।
शिष्यो योग्यो भवेत् सो हि दानध्यानपरायणः ॥

(बृ० तं० सा० 1.26-27)

अर्थात् शिष्य को शान्त, विनीत, पवित्र आत्मा वाला, श्रद्धावान्, धारण करने में सक्षम, सामर्थ्यवान्, कुलीन, प्रज्ञावान् तथा सच्चरित्र इत्यादि गुणों से समन्वित होना चाहिए। इतना ही नहीं उसे पुण्यवान्, धार्मिक, शुद्ध, गुरुभक्त और जितेन्द्रिय होना चाहिए और उसे दान और ध्यान आदि में भी परायण होना चाहिए। सामान्यतः स्थिरचित वाला, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला, सभी प्रकार के दोषों से रहित, आज्ञाकारी, गुणवान् इत्यादि गुण एवं लक्षण शिष्य का बतलाया जाता है। तन्त्रों में कहा गया है कि ऐसे ही योग्य एवं लक्षणवान् शिष्यों को मन्त्रदीक्षा एवं विद्या की दीक्षा देनी चाहिए।

कुलार्णवतन्त्र के ही गुरु-शिष्य लक्षण नामक तेरहवें उल्लास में विस्तार से सच्छिष्य के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में कहें तो सच्छिष्य को कुलीन, शुभलक्षणों से समन्वित, समाधि और साधना से युक्त तथा गुण एवं शीलों से समन्वित होना चाहिए। उसे स्वच्छ देह एवं स्वच्छ वस्त्र, प्रज्ञावान्, धार्मिक और शुद्ध मानस वाला, दृढव्रती, सदाचारी, श्रद्धा और भक्ति से युक्त होना चाहिए। शिष्य को सदा दक्ष रहने वाला, अल्पाहारी, गूढचित्त वाला तथा बिना किसी फल की आशा किए सेवा करने वाला, वीर और उदार मन वाला होना चाहिए। उसे सभी कार्यों को सम्पन्न करने में अतिकुशल, सभी का उपकार करने वाला, कृतज्ञता स्वीकार करने वाला, पाप कर्मों से डरने वाला, साधु एवं सज्जनों की संगति करने वाला, आस्तिक, दानी, सभी प्राणियों का हित चाहने वाला, विश्वास एवं विनय से युक्त होना चाहिए। उसे असाध्य कर्मों को साधने वाला, वीर, पूर्ण

उत्साह एवं बल से युक्त, अनुकूल कार्यों को करने वाला, अप्रमत्त तथा विचक्षण होना चाहिए। एक ही बार कहे गए अर्थ को ग्रहण करने वाला, चतुर और व्यापक बुद्धि वाला, अपनी स्तुति और निन्दा में पराङ्मुख रहने वाला, दर्शनीय, प्रिय, जितेन्द्रिय और सदा सन्तुष्ट रहने वाला भी शिष्य का लक्षण बतलाया गया है। शिष्य को गुरु की स्तुति, ध्यान, देवतार्चन, वन्दना में उत्सुक रहने वाला, गुरु एवं देव में भक्ति रखने वाला, सदा गुरु के साथ रहने वाला, गुरु को सन्तोष देने वाला, सदा काय, वाक् तथा चित्त से सेवा करने में उद्यत रहने वाला होना चाहिए। उसे गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, गुरु के गुणों को फैलाने वाला, गुरु के वाक्य को प्रमाण मानने वाला, गुरु की सेवा में सदा रत रहने वाला तथा जाति का मान और धन आदि के गर्व से रहित होना चाहिए। शिष्य को गुरु के द्रव्य के प्रति निरपेक्ष रहने वाला तथा सदा गुरु का प्रसाद चाहने वाला होना चाहिए, साथ ही उसे कुलार्चन में रत रहने वाला, सदा जप और ध्यान में लगा रहने वाला और मोक्ष मार्ग का अभिलाषी होना चाहिए। उपर्युक्त गुणों से युक्त शिष्य को ही गुरु को कुल दीक्षा के लिए ग्रहण करना चाहिए।[1]

---

1. सच्छिष्यन्तु कुलेशानि शुभलक्षणसंयुतम् ।
समाधिसाधनोपेतं गुणशीलसमन्वितम् ॥
स्वच्छदेहाम्बरं प्राज्ञं धार्मिकं शुद्धमानसम् ।
दृढव्रतं सदाचारं श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥
दक्षमल्पाशिनं गूढचित्तं निर्व्याजसेवकम् ।
विमृष्यकारिणं वीरं मनोदारिद्र्यवर्जितम् ॥
सर्वकार्यातिकुशलं स्वच्छं सर्वोपकारिणम् ।
कृतज्ञं पापभीतञ्च साधुसज्जनसम्मतम् ॥
आस्तिकं दानशीलं च सर्वभूतहिते रतम् ।
विश्वासविनयोपेतं धनदेहाद्यवञ्चकम् ॥
असाध्यसाधकं शूरमुत्साहबलसंयुतम् ।
अनुकूलक्रियायुक्तमप्रमत्तं विचक्षणम् ॥
हितसत्यमितस्मेरभाषणं मुक्तदूषणम् ।
सकृदुक्तगृहीतार्थं चतुरं बुद्धिविस्तरम् ॥
स्वस्तुतौ परनिन्दायां विमुखं सुमुखं प्रिये ।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं धीमन्तं ब्रह्मचारिणम् ॥
त्यक्ताधिव्याधिचापल्यदुःखभ्रान्तिमसंशयम् ।
गुरुध्यानस्तुतिकथादेवार्चावन्दनोत्सुकम् ॥

तन्त्रराजतन्त्र में सच्छिष्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

चतुर्भिराद्यैः संयुक्तः श्रद्धावान् सुस्थिराशयः ।
अलुब्धः स्थिरगात्रश्च प्रेक्षाकारी जितेन्द्रियः ॥
आस्तिको दृढभक्तिश्च गुरौ मन्त्रे सदैवते ।
एवं विधो भवेच्छिष्यस्त्वितरो दुःखकृत् गुरोः ॥

(तं० रा० तं० 1.23-24)

प्रारम्भ में अर्थात् गुरु के लक्षण के प्रसंग में बतलाए सुन्दर आदि लक्षणों के अतिरिक्त शिष्य को श्रद्धावान्, स्थिर आशय वाला, अलोभी, स्थिरगात्र अर्थात् अचञ्चल, प्रेक्षाकारी, जितेन्द्रिय, आस्तिक, गुरु, मन्त्र और देवता में दृढ़ भक्ति वाला होना चाहिए। अन्यथा इन गुणों के न होने पर वह शिष्य गुरु को दुःख देने वाला ही होगा। इसी प्रकार रुद्रयामल में भी बड़े विस्तार से शिष्य के लक्षण एवं गुणों को गिनाया है। गुरु को माता-पिता, स्वामी, बन्धु, सुहृद, शिव और ब्रह्मा समझने वाले को ही शिष्य समझा जाता है। सत् शिष्य ही गुरु के वाक्यों में श्रद्धा और विश्वास करता है। जो गुरु के समीप रहकर उसकी सेवा करता हुआ उससे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है, वही उत्तम शिष्य है और वही सद्ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी भी है। देवता गुरु स्वरूप होता है और गुरु देवता स्वरूप, शिष्य को चाहिए कि इन दोनों में भेद न करे। इस प्रकार काफी विशद रूप में शिष्य का लक्षण एवं एक सच्छिष्य में क्या क्या गुण होने चाहिए इत्यादि का शैव-शाक्त एवं कौल तन्त्रों में वर्णन मिलता है।

गुरुदैवतसम्भक्तं कामिनीपूजकं परम् ।
नित्यं गुरुसमीपस्थं गुरुसन्तोषकारकम् ॥
मनोवाक्तनुभिर्नित्यं परिचर्यासमुद्यतम् ।
गुर्वाज्ञापालकं देवि गुरुकीर्तिप्रकाशकम् ॥
गुरुवाक्यप्रमाणज्ञं गुरुशुश्रूषणे रतम् ।
चित्तानुवर्तिनं प्रेष्यकारिणं कुलनायिके ॥
जातिमानधने गर्ववर्जितं गुरुसन्निधौ ।
निरपेक्षं गुरुद्रव्ये तत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणम् ॥
कुलधर्मकथा योगियोगिनी कौलिकप्रियम् ।
कुलार्चनादिनिरतं कुलद्रव्याजुगुप्सकम् ॥
जपध्यानादिनिरतं मोक्षमार्गाभिकाङ्क्षिणम् ।
कुलशास्त्रप्रियं देवि पशुशास्त्रपराङ्मुखम् ।
इत्यादिलक्षणोपेतं गुरुः शिष्यं परिग्रहेत् ॥ (कु० तं० 13.23-37)

वर्ज्य शिष्य अर्थात् शिष्य का दोष

गुण एवं लक्षणों के साथ तन्त्रों में शिष्य के दोषों अर्थात् एक गुरु को किन शिष्यों का परित्याग करना चाहिए, इसका भी विस्तार से वर्णन मिलता है। सामान्यतः आज्ञाहीन, दुराचारी, कमजोर, निन्दक, व्यग्रचित्त वाले शिष्य का परित्याग करने का निर्देश मिलता है। निषिद्ध शिष्य लक्षण के अन्तर्गत इस प्रकार के शिष्य के दुर्गुणों एवं लक्षणों को इंगित करते हुए बृहत् तन्त्रसार में कहा है, जो शिष्य पापी है, जिसकी चेष्टा क्रूर हो, कपटी हो, कृपण हो, आचार शून्य हो, दूसरों से द्वेष करने वाला, दूसरों की निन्दा करने वाला, मूर्ख, जिसमें गुरु के प्रति भक्ति न हो और जिसका चित्त मलिन हो अर्थात् राग, द्वेष, मोह आदि से युक्त हो, इस प्रकार के शिष्य को दीक्षित नहीं करना चाहिए।

पापिने क्रूरचेष्टाय शठाय कृपणाय च ।
दीनायाचारशून्याय यन्त्रद्वेषपराय च ॥

निन्दकाय च मूर्खाय तीर्थद्वेषपराय च ।
गुरुभक्तिविहीनाय न देया मलिनाय च ॥ (बृ० तं० सा० 1.28-29)

वहीं आगमसार को उद्धृत करते हुए वर्जनीय शिष्य के लक्षणों को बतलाते हुए कहा है कि जो आलसी, मलिन, दम्भी, कृपण, दरिद्र, रोगी, भोग-विलास का इच्छुक, ईर्ष्या, मत्सर से ग्रस्त और सदा कठोर वचन बोलने वाले हों उन्हें शिष्य के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अन्याय पूर्वक धन अर्जित करने वाला, काममिथ्याचार में रत और विद्वानों से वैर करने वाले शिष्यों का भी परित्याग करना चाहिए। साथ ही जिनका आचरण भ्रष्ट हो, चुगलखोर, धोखेबाज़, अत्यधिक भोजन करने वाले एवं जिनकी चेष्टाएं क्रूर हों, इस प्रकार के अधम शिष्यों, जो पाप के इच्छुक हों, उन्हें शिष्य के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अलसा मलिनाः क्लिन्ना दाम्भिकाः कृपणास्तथा ।
दरिद्रा रोगिणो रुष्टा रागिणो भोगलालसाः ॥

असूयमत्सरग्रस्ताः सदा पारुषवादिनः ।
अन्यायोपार्जितधनाः परदाररताश्च ये ॥

विदुषां वैरिणश्चैव त्याज्याः पण्डितमानिनः ।
भ्रष्टाचाराश्च ये कृष्टवृत्तयः पिशुनाः खलाः ॥

बह्वाशिनः क्रूरचेष्टा दुरात्मनश्च निन्दिताः ।
इत्येवमादयोऽन्येऽपि पापिष्ठः पुरुषाधमः ।
एवं भूताः परित्याज्याः शिष्यत्वेनोपकल्पिताः ॥

(बृ० तं० सा० 1.30-33)

वर्ज्य शिष्य के लक्षणों का कुलार्णवतन्त्र के त्रयोदशवें उल्लास (13.3-22) में विस्तार से निर्देश किया है। जो किसी दुष्ट कुल में उत्पन्न हुआ हो, गुणों से रहित हो, कुरूप हो, पाखण्डी हो, षण्ड, अहंकारी, शरीर में विकार युक्त कम या अधिक अंग वाला हो, पंगु, अन्धा, बधिर, मलिन और रोग से पीड़ित हो, दुर्मुख हो, स्वेच्छा वेशधारी हो, निद्रालु, मूर्ख और आलसी हो, द्यूत आदि दुर्व्यसनों में रत रहने वाला हो, इसी प्रकार झूठ बोलने वाला, मायावी, कृतघ्न, विश्वासघाती, स्वामी के प्रति द्रोही, पापी, आततायी, अभिमानी, असत्य बोलने वाला, बुरे विचारों वाला, कुतर्क करने वाला, कलह प्रिय, व्यर्थ में आक्षेप लगाने वाला, चञ्चल, सामने मधुर भाषी और पीछे दोषारोपण करने वाला, अकारण ही द्वेष, हास, क्रोधादि करने वाला, कामुक, निर्लज्ज, ईर्ष्या, मात्सर्य, दम्भ और अहंकार से युक्त, पारुष्य, पैशुन्य एवं क्रोधी स्वभाव वाला, मन्द बुद्धि वाला और तृष्णा और लोभ से युक्त, दीन, असन्तुष्ट रहने वाला, अत्यधिक भोजन करने वाला, भक्ति, श्रद्धा, दया, शान्ति और धर्माचार से रहित, माता-पिता, गुरु एवं विद्वानों के वचनों का मजाक करने वाला इत्यादि लक्षणों और दुर्गुणों से युक्त शिष्य का परित्याग करना चाहिए।

इसी प्रकार रुद्रयामल (2.78-84) में भी दोषों से युक्त शिष्य का परित्याग करने के लिए कहा है। दुर्गणों से युक्त शिष्य सिद्धि-पूजा के फल को नष्ट कर देता है। जो कामुक, क्रोधी, लोगों द्वारा निन्दित एवं मिथ्यावादी होता है, वह शिष्य की योग्यता नहीं रखता है। अविनीत, सामर्थ्यहीन, प्रज्ञाहीन, धन का लोभी, जड़ एवं विद्या शून्य, कलियुग के दोषों से युक्त, वैदिक क्रियाओं से विहीन, आश्रम के आचार से रहित, अशुद्ध अन्तःकरण वाला शिष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। गुरु के प्रति श्रद्धा से विहीन, धैर्य रहित, सच्चरित्र वर्जित, गुण रहित, परस्त्री के साथ गमन करने वाला, असद् बुद्धि वाला, भक्ति रहित शिष्य का गुरु द्वारा परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई गुरु ऐसे शिष्य का धन आदि के लोभ से परित्याग नहीं करता है तो वह गुरु भी शिष्य के समान ही नरकगामी बनता है।

गुरु-शिष्य परीक्षा

इस प्रकार बतलाया गया है कि गुरु को अपनी शरण में आये शिष्य के सभी शुभ-अशुभ लक्षणों का सम्यक् विचार कर दीक्षा देनी चाहिए। गुरु एक, दो, तीन, चार और पाँच वर्ष तक शिष्य की योग्यता आदि की परीक्षा करके भक्तियुक्त गुणों वाले को क्रमशः विद्या प्रदान करें अन्यथा गुरु और शिष्य दोनों का नाश हो जायेगा।[1] कुलार्णवतन्त्र[2] में भी कहा है—गुरु को किन शिष्यों को दीक्षा देनी चाहिए, इसके लिए योग्य शिष्य का निरूपण और शिष्य की परीक्षा करनी चाहिए ''गुरुः शिष्यं परीक्षयेत्'' (14.19)।

बृहत् तन्त्रसार में सारसंग्रह नामक ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए कहा है कि सद्गुरु को अपने आश्रय में आए शिष्य का एक वर्ष तक परीक्षा करे।[3]

इसी प्रकार शिष्य को भी गुरु की परीक्षा करनी चाहिए ''शिष्योऽपि लक्षणैरेतैः कुर्याद्गुरुपरीक्षणम्'' (14.25)। यहाँ विस्तार से गुरु की परीक्षा किन-किन लक्षणों से करनी चाहिए उसका उल्लेख किया गया है।[4]

शिष्य के भेद

यद्यपि शिष्य के लक्षण में विविध प्रकार के गुणों से युक्त शिष्य का स्वरूप बतलाया गया है तथापि कोई विशिष्ट भेद दिखलाई नहीं पड़ता। इस सन्दर्भ में कुलार्णवतन्त्र में अधम, मध्यम और श्रेष्ठ के भेद से तीन प्रकार के शिष्य बतलाये गये हैं ''अधमा मध्यमाः श्रेष्ठाः शिष्या देवि प्रकीर्त्तिताः'' (14.27)। वहाँ प्रत्येक का विस्तृत रूप से लक्षण भी निर्दिष्ट है।[5]

शिष्य का आचरण

गुरु के प्रति शिष्य का आचरण एवं कर्तव्याकर्तव्य पर भी तन्त्रशास्त्रों में पर्याप्त दिशानिर्देश हुआ है। तन्त्रराजतन्त्र में गुरु के समक्ष शिष्य का व्यवहार कैसा हो, उसे किस

---

1. एकद्वित्रिचतुःपञ्चवर्षाण्यालोच्य योग्यताम् ।
   भक्तियुक्तान् गुणांश्चापि क्रमाद्वर्णेषु सङ्करे ॥
   पश्चादुक्तक्रमेणैव वदेद्विद्यामनन्यधीः ।
   अन्यथा चेद् वदेन्नाशं सशिष्यो गुरुराप्नुयात् ॥ (तं० रा० तं - 2-37-38)
2. कुलार्णवतन्त्र - 14.12-19
3. बृहत् तन्त्रसार—''सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत्''। (1.35)
4. कुलार्णवतन्त्र - 14.20-25
5. कुलार्णवतन्त्र - 14.28-30

प्रकार उठना-बैठना चाहिए इत्यादि का वर्णन करते हुए कहा है कि गुरु से कुछ भी निवेदन करने से पूर्व प्रसीद नाथ, देव इत्यादि आदरपूर्वक कहना चाहिए। गुरु के समक्ष बैठते समय प्रणाम करके बैठना चाहिए और जाना हो तो जाने से पूर्व प्रणाम कर आज्ञा लेकर ही जाना चाहिए। गुरु सेवा, परिचर्या या अन्य किसी भी प्रकार के कार्य करने से पूर्व आज्ञा प्रदान करें या आज्ञा दें इत्यादि वचन बोलकर सेवा करनी चाहिए। गुरु के समक्ष झूठ नहीं बोलना चाहिए और न ही अधिक बोलना चाहिए। गुरु के सामने रहते काम, क्रोध, लोभ, मान, प्रहसन, स्तुति, जम्हाई, प्रलाप इत्यादि कार्य नहीं करने चाहिए। उसी प्रकार गुरु के साथ वस्तुओं का लेन-देन, क्रय-विक्रय और गुरु से ऋण लेना या देना इत्यादि भी नहीं करना चाहिए।[1]

कौलावलीनिर्णय के दसवें उल्लास में भी बहुत ही विस्तृत रूप में शिष्य के आचरणीय धर्मों का उल्लेख मिलता है तथा साथ ही उन आचरणीय धर्मों के पालन नहीं करे तो नरकगमन इत्यादि अनेक फल भी निर्दिष्ट हैं। यहाँ शिष्य के लिए समयाचार का वर्णन करने से पूर्व विस्तार से गुरु का माहात्म्य, गुरुवंश का गौरव, गुरु की सन्तुष्टि और उसके सन्तुष्ट होने पर अनेक प्रकार की सिद्धियों का लाभ तथा ऐसे गुरु का परित्याग करने पर नरक का भोग आदि निर्दिष्ट है। कहा है कि जिनकी गुरु के प्रति निश्चल भक्ति है, उन्हें जल्द सिद्धि मिलती है, उसके अभाव में कल्पकोटियों में भी नहीं।

येषाञ्च निश्चला भक्तिर्गुरौ देवे मनावपि ।
तेषां सिद्धिर्भवेदाशु नान्यथा कल्पकोटिषु ॥ (कौ० व० नि०, पृ० 56)

शिष्य को चाहे प्रत्यक्ष में हो या परोक्ष में हर समय गुरु को प्रणाम करना चाहिए। गुरु के सामने रहते किसी दूसरे की पूजा नहीं करनी चाहिए और न ही औद्धत्य। उसी

---

1. गुरूच्यमाने वचने दद्यादित्थं वचः सदा ।
प्रसीद नाथ! देवेति तथेति च कृतादरम् ॥
प्रणम्योपविशेत्पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया ।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात् ॥
असत्यं न वदेदग्रे न बहुप्रलपेदपि ।
कामं क्रोधं तथा लाभं मानं प्रहसनं स्तुतिम् ॥
चापलानि च जिह्मानि कर्माणि परिदेवनम् ।
ऋणदानं तथाऽऽदानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् ॥
न कुर्याद्गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचन ।
यतो गुरुः शिवः साक्षात् स्तुवन् प्रणमन् भजेत् ॥ (तं० रा० तं० - 1.25-29)

प्रकार गुरु के सामने होते किसी दूसरे शिष्य को दीक्षा देना, व्याख्यान देना आदि कार्य नहीं करने चाहिए। इसी प्रकार यहाँ भी कहा है कि गुरु के साथ किसी प्रकार का लेन-देन, ऋण आदि नहीं लेना चाहिए। गुरु की आज्ञा का पालन न करना, गुरु द्रव्य का अपहरण, जो गुरु को अप्रिय हो उनके साथ व्यवहार करना गुरु द्रोह कहलाता है। गुरु के समक्ष आत्मशुद्धि के लिए तप, व्रत और उपवास आदि नहीं करना चाहिए। गुरु ने सद् असद् जो भी कहा हो उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। गुरु के आने पर आसन छोड़कर उठ जाना चाहिए। उसी प्रकार कभी भी गुरु का आसन, शय्या, पादुका यहाँ तक कि गुरु के स्नान का जल एवं छाया का भी लंघन नहीं करना चाहिए।[1]

रुद्रयामल में भी प्रायः इन्हीं आचरणों की ओर इंगित करते हुए कहा है कि गुरु सर्वजगत् का मूल है इसलिए गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। गुरु के कार्यों के प्रति उपेक्षा भाव नहीं रखना चाहिए। सदैव उसका अनुगामी बनकर आदेश का पालन करना चाहिए। गुरु के लिए अपने आसन का त्याग कर देना चाहिए। गुरु को अपनी शक्ति के अनुसार भक्षणीय वस्तु अर्पित करें तो वह अत्यधिक महनीय होता है। इसलिए काय-वाक्-चित्त से गुरु की सेवा एवं हित में संलग्न रहना चाहिए। गुरु के समान ही उसके पुत्र और पुत्री के प्रति भी आचरण करना चाहिए, क्योंकि गुरु जैसा भी हो, वह देव तुल्य है।[2] बृहत् तन्त्रसार में निगमकल्पद्रुम को उद्धृत किया है, जहाँ कहा गया है कि शिष्य को आते हुए गुरु के आगे-आगे चलना चाहिए और जाते समय उसका अनुकरण करना चाहिए। आसन पर सोये गुरु के समक्ष नहीं बैठना चाहिए। अनुज्ञा प्राप्त कर ही बैठना चाहिए और कभी भी गुरु के समक्ष सोना नहीं चाहिए।[3]

उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में गुरु का अतिशय महत्त्व है। वहीं शिष्य का भी बराबर विश्लेषण किया है, क्योंकि शिष्य में भी वह योग्यता एवं पात्रता होनी चाहिए कि वह गुरु उपदेश का श्रवण कर शिव-भाव को प्राप्त कर सके। इसीलिए गुरु को शिष्य के लक्षण इत्यादि का सम्यक् परीक्षण करके ही दीक्षा देनी

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—कौलावलीनिर्णय, दसवां उल्लास, पृ० 56-57
2. द्र०-रुद्रयामल - 1.224-244
3. आयन्तमग्रतो गच्छेद् गच्छन्तं तमनुव्रजेत् ।
   आसने शयने वाऽपि न तिष्ठेदग्रतो गुरोः ।
   अनुज्ञां प्राप्य तिष्ठेत्तु नैवं शापमवाप्नुयात् ॥ (1.18-19)

चाहिए। वहीं गुरु के लक्षण, गुणों एवं दोषों का भी विवेचन कर बतलाया है कि शिष्य को भी गुरु का सम्यक् परीक्षण कर ही सेवन करना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

कुलार्णवतन्त्र : सम्पा० सर जॉन बुडरफ एवं एम० पी० पण्डित, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, रिप्रिन्ट-1984.

कौलावली (निर्णय) : सम्पा० आर्थर एवलॉन, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, रिप्रिन्ट-1985.

तन्त्रराजतन्त्र : सम्पा० लक्ष्मण शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, रिप्रिन्ट-1981.

बृहत् तन्त्रसार : कृष्णानन्द आगमवागीश कृत, सम्पा० रामकुमार राय, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1985.

भारतीय संस्कृति और साधना : म० म० गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण, 1977.

मनुस्मृति : सम्पा० गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1982.

योगवासिष्ठ : सम्पा० वासुदेव लक्ष्मण शर्मा पणसीकर, दो भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, रिप्रिन्ट-1984.

रुद्रयामल [उत्तरतन्त्रम्] : दो भाग, सम्पा० आचार्य श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1991.

'सोऽहम् सन्देश' : गुरु पूर्णिमा विशेषांक, सोऽहम् आश्रम, रोहतक हरियाणा, 1996.

लेखः—

'गुरुतत्त्व विमर्श' : प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, 'सोऽहम् सन्देश', पृ० 30-35, 1996.

'गुरु का स्वरूप और गुरु-शिष्य सम्बन्ध' : पं० जगन्नाथ शास्त्री तेलंग, 'सोऽहम् सन्देश', पृ० 42-44, 1996.

गुरु-महिमा : डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, 'सोऽहम् सन्देश', पृ० 36-38, 1996.

●

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (9)

—छेरिंग डोलकर—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत धी: के पूर्व अंकों में आचार्य बुस्तोन रचित ''सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि द्वारोद्घाटक कुञ्जी'' नामक ग्रन्थ का क्रमश: अनुवाद दिया जा रहा है। इस अंक में तन्त्रों का प्रसार (व्यवस्थान) शीर्षक के अन्तर्गत तन्त्रों के अभिधेय का विशिष्टार्थ-भेद में से क्रिया एवं चर्यातन्त्र के अभिधेय के उपभेदों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।]

IV. तन्त्र का लोक में प्रसार (व्यवस्थान)

(इसमें चार विषय हैं)—1. तन्त्र के अभिधेय का विशिष्ट-अर्थभेद, 2. तन्त्र के अभिधान का भेद, 3. उद्‌भव एवं 4. देशना।

1. तन्त्र के अभिधेय का विशिष्ट-अर्थभेद

यह भी दो प्रकार के हैं—(क) तन्त्र का सामान्य (अभिधेय) अर्थ और (ख) चार तन्त्रों के विशिष्ट (अभिधेय) भेद।

(क) तन्त्र का सामान्य-अर्थ

गुह्यसमाजोत्तरतन्त्र में ''तन्त्र को प्रबन्ध कहा है। आधार, प्रकृति और असंहार्य के भेद से वह प्रबन्ध तीन प्रकार के हैं। प्रकृति आकार को हेतु, उसी प्रकार असंहार्य को फल तथा आधार को उपाय के रूप में जानना चाहिए। इन तीनों में तन्त्र का (अभिधेय) अर्थ संगृहीत है''।[1] इस प्रकार हेतुतन्त्र, उपायतन्त्र और फलतन्त्र, ये तीन (तन्त्र) हैं। यहाँ हेतुतन्त्र सभी सत्त्वों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान प्रकृति प्रभास्वर तथागतगर्भ को कहा है। उत्तरतन्त्र का क्या अर्थ है? कहें तो, जैसा कि **वज्रशेखर(तन्त्र)** (तो० 480) में कहा है—

---

1. प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं तत् प्रबन्धं त्रिधा भवेत् ।
आधार: प्रकृतिश्चैव असंहार्यप्रभेदत: ॥
प्रकृतिश्चाकृते(ति)र्हेतुरसंहार्यफलं तथा ।
आधारस्तदुपायश्च त्रिभिस्तन्त्रार्थसंग्रह: ॥ (गु० तं० 18.33-34)

"यह उत्तरतन्त्र क्यों है? तन्त्र को प्रबन्ध कहा है, क्योंकि, संसार को तन्त्र माना है और उत्तर का अर्थ है पार, अतः इसे उत्तरतन्त्र कहा गया है। (दूसरी ओर), तन्त्र को प्रबन्ध कहा है; उत्तर अर्थात् पूर्व से उद्भूत तत्त्व जो गुह्य एवं रहस्य है, उसे उत्तरतन्त्र कहा है, इसलिए उत्तर और तन्त्र है। (अथवा) भूमियों में पारंगत उत्तम जिन(बुद्ध) जो संसार रूपी कारागार से उत्तीर्ण हैं या जो कोई (संसार से) उत्तीर्ण हो चुका हो, (उसे) उत्तरतन्त्र कहा है।"

हेतुतन्त्र, प्रबन्ध रूपी संसार जो मूलतन्त्र है, उससे उद्भूत या उसमें पारंगत, सभी प्रकर्ष पर्यन्त प्राप्त जिन ही उत्तरतन्त्र या फलतन्त्र है। अतः शान्तिपाद ने कहा है—"हेतु का प्रबन्ध स्वभाव वाला होने से उत्तरतन्त्र को हेतुतन्त्र ऐसा अर्थ किया है"। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिपादित हेतुतन्त्र से यह विपरीत हो जायेगा कहें तो इसमें दोष नहीं है, क्योंकि शतकुल आदि फलतन्त्र भी हेतुतन्त्र प्रकृति प्रभास्वर स्वभाव से अतीत नहीं है, उसे (ऐसा) समझना चाहिए। आदि अथवा प्रारम्भिक काल से बुद्धत्व काल के स्वभाव का ही वज्रसत्त्व आदि के स्वभाव में नित्य रूप से अवस्थित, परम अलौकिक महासमय, गुह्यतत्त्व और महागुह्य रूप ही उत्तरतन्त्र है। **श्रीपरमाद्य** (तो० 487) आदि में "तन्त्र को ही प्रबन्ध कहा है, (और) उत्तर को आदि कहा है। (अर्थात्) गुह्यतत्त्व महागुह्य को ही उत्तरतन्त्र माना गया है।" वह (उत्तरतन्त्र) वासना सहित आवरणों से असंहार्य है अर्थात् संहरणीय समस्त आवरणों से रहित होने के कारण फलतन्त्र असंहार्य है। इसका साक्षात्कार करने का उपाय (क्रिया आदि) चार तन्त्रों के आधार पर अवयवों सहित मार्गक्रम हैं जिसके विषय में आगे विस्तार से कहा जायेगा, क्योंकि यह उपायतन्त्र है।

(ख) चार तन्त्रों के विशिष्ट (अभिधेय) भेद

क्रिया, चर्या, योग और महायोगतन्त्र के (अभिधेय) अर्थ व्यवस्था के भेद से इसके चार भेद हैं।

क्रियातन्त्र के भेद- I. क्रियातन्त्र के षट्(कुल)तन्त्रों में भेद, II. इन (षट् कुलों) का तीन (कुलों) में संग्रह और III. इन का (छह एवं तीन कुलों का) प्रज्ञा और उपाय दो पक्षों (कुलों) में संग्रह।

I. क्रियातन्त्र के षड् वर्गों(कुलों) के भेद— (इसमें) षट् कुलों का वास्तविक भेद, उनकी (षट् कुलों की) विशेषता तथा प्रसंगतः क्रियातन्त्र में असंगृहीत गुह्यमन्त्रों की देशना आदि तीन भेद हैं।

षट् कुलों का वास्तविक भेद— सूक्ष्मविधि (तो० 757) में कहा है— "सकलमण्डलमहापद्म(कुल), वज्रकुल, तथागतकुल, मणिकुल और नाग(हस्ति)कुल"। इस प्रकार, तथागत द्वारा अधिष्ठित गुह्यमन्त्र के देव उष्णीष आदि तथागतकुल के हैं। अवलोकितेश्वर द्वारा अधिष्ठित विद्यामन्त्र की देवी तारा आदि पद्मकुल के हैं। वज्रपाणि आदि द्वारा अधिष्ठित गुह्यमन्त्र के क्रोध देव आदि वज्रकुल के हैं। अक्षय धन के स्रोत मणिभद्र आदि द्वारा अधिष्ठित दरिद्रता का निवारण (नाश) करने वाले देवता मणिकुल के हैं। पुत्र-पौत्र एवं धन आदि भोग की वृद्धि के विपुल कार्यों को सिद्ध करने वाले पाँच सौ पुत्रों के साथ एक जुट होकर पाँच जन्मों पर्यन्त क्रीड़ा (विलास) करने वाले पञ्चिक आदि पौष्टिक-कुल के हैं। इसे नागकुल और गोकुल भी कहा जाता है। इन पाँच (कुलों) के अतिरिक्त देव, असुर आदि के द्वारा अपने-अपने गुह्यमन्त्रों का सविधि अर्पण करना, लोककुल में संगृहीत है।

षट्कुलों की विशेषता— सुबाहुपरिपृच्छा (तो० 805) में कहा है—"देव, असुर और मनुष्यों के हित के लिए, विविध प्रकार के तीन करोड़ पाँच लाख गुह्यमन्त्रों और विद्यामन्त्रों के विद्याधरपिटक की देशना बुद्ध ने दी है।

मैंने (वज्रपाणि ने) गुह्यकों को दमन करने के लिए तथा दरिद्रता के दुःखों को हटाने के लिए मुद्रा से युक्त मण्डल सहित सात करोड़ गुह्यमन्त्रों को प्रतिष्ठित(अधिष्ठित) किया है। दस दूत और सात विद्याराज, उसी प्रकार चौंसठ किंकर (परिकर) और मेरे (कीलिकील आदि) आठ परमहृदय, साठ क्रोध अमृतकुण्डल और विद्योत्तम आदि महास्थाम विद्या-अधिपति गुह्यमन्त्र के अनुसार, तत्पश्चात् जो वज्रकुल है, वहाँ पर इनकी मैंने विस्तारपूर्वक देशना दी है।

अवलोकितेश्वर ने तीन करोड़ तथा उसी प्रकार पाँच लाख (ग्रन्थ प्रमाण वाली) गुह्यमन्त्र की देशना दी। उस विद्यामन्त्र का अधिपति हयग्रीव और त्रि-अग्र मण्डल में उसी नाम वाला द्वादशभुज और षोडशभुज, उष्णीषमुकुट, कामाश्लेषक, चतुर्मुखी, अमोघपाश

आदि सात को देशित गुह्यमन्त्र भूमि (पृथ्वी) पर सात सूर्य की तरह प्रज्वलित हैं। ये हयग्रीव मण्डल के गुह्यमन्त्र हैं, जो मनुष्य को वरदान देते हैं और तीनों लोकों में समादृत हैं। सिततारा, शुभ्रवस्त्रा, विलोचनी, एकजटी, सितवासिनी, यशोवती तथा भृकुटी ये सभी पद्मकुल के परमराज्ञी विद्यामन्त्र हैं। ये विश्वमण्डल रूपी और विविध मुद्राओं से युक्त हैं।

जिन (पौष्टिककुल) के गुह्यमन्त्र तन्त्र में मेखला विद्यागुह्यमन्त्रेश्वरी अधिपति की भावना करें। उसका गुह्यमन्त्र मनुष्य के लिए परम सिद्धि(दायक) है। उस पर पञ्चिक भी आनन्दित होते हैं। वे यक्षेश्वर सदा अनुकूलता से उसके आज्ञारूपी परम गुह्यमन्त्रों को कहते (देशना करते) हैं। पञ्चिक द्वारा बीस हज़ार और उसकी पत्नी (हारिती) द्वारा उसका आधा अर्थात् दस हज़ार (गुह्यमन्त्रों) की देशना (तथा) मणिभद्र द्वारा तीस हज़ार और पूर्णभद्र द्वारा भी एक लाख (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। (इसप्रकार) बुद्ध के प्रति श्रद्धावान् देव एवं असुर आदि ने अनन्त गुह्यमन्त्रों की देशना दी।''

इसमें (षट्कुलों की विशेषता में) पाँच भेद हैं— 1. देशक-भेद, 2. देशनीय देव-भेद, 3. प्रयोजन-भेद, 4. ग्रन्थ(आगम) प्रमाण-भेद और 5. मन्त्र-भेद।

देशक-भेद— तथागतकुल के तन्त्रों की देशना तथागत ने दी। (इसीप्रकार) पद्मकुल के तन्त्रों की (देशना) अवलोकितेश्वर ने, वज्रकुल के तन्त्रों की (देशना) वज्रपाणि ने, मणिकुल के तन्त्रों की (देशना) वसु-अधिपति अर्थात् मणिभद्र तथा पूर्णभद्र नामक देवर्षि वैश्रवण ने दी। पौष्टिककुल की देशना पञ्चिक और उसकी पत्नी हारिती ने दी। लोककुल की देशना बुद्ध के प्रति श्रद्धावान् प्रत्येक सुर और असुरों ने दी, (और) शास्ता ने (उनका) अनुमोदन किया।

देशनीय देव-भेद— तथागत कुल में छह विविध प्रकार के गुह्यमन्त्र और विद्यामन्त्र कहे गये हैं, किन्तु विशेष रूप से कुछ नहीं कहा है, परन्तु (सुबाहुपरिपृच्छा) **टीका** में कहा है— ''उष्णीष और मातृकाएँ, क्रोध और क्रोधिनियाँ, किंकर आदि तथा अन्य भी, तथागत कुल में संगृहीत बोधिसत्त्वों और शुद्धावासिक देवताओं में, अनेक प्रकार के भेद किये हैं''। इसप्रकार (यहाँ) प्रधानकुल या विभु तथागत साक्षात् रूप में नहीं कहने पर भी अर्थ बोध की दृष्टि से वैरोचन, महावैरोचन, शाक्यमुनि, विपश्यी और शिखी आदि

(तथागत को समझना चाहिए), जैसा कि **मञ्जुश्रीमूलकल्प** में कहा है—"बुद्ध चन्द्रप्रभ, गन्धरोचन श्री आदि कहा है"।

कुल-अधिपति या विद्याराज मञ्जुश्रीकुमारभूत तथागतकुल के चक्रवर्ती हैं, ऐसा पूर्व के गुरुओं ने कहा है। अन्य भी विद्याराज अमृतवज्र, त्रिबलवज्र, असम्प्रमोषवज्र, समयाग्र, सुकुलवीरोत्तमवज्र, अचलाग्र, अमृतशिखिसंप्रवेश, तथागतबलगोचर-अधिष्ठान, दशदिगाभाप्रवरवज्र, सुविख्यातत्रिनेत्र, वज्रधर, रहस्याग्र, चतुर्मुख और तेजस्बल आदि **त्रिसमयव्यूह(राजनामतन्त्र)** (तो० 502) में कहे अनुसार इनके सदृश समस्त विद्याराज हैं। मातृ अर्थात् प्रधानमातृ (नायिका) बुद्धवती हैं, (इनका) दूसरा नाम गगनलोचना है।

त्रिसमयव्यूह में अन्य भी महाविद्याराज्ञी (जैसे) शिखी, सम्पन्ना, अनन्ता, वागेश्वरी, तथागत-अमोघशिखी, असमचण्डालिनी, अनादिसिद्धि-अमोघा, त्रिबला, अभयामोघप्रभा और असमोत्तमबला (आदि) दस बतलाए गए हैं। **मञ्जुश्रीमूलकल्प**[1] में कहा है—"विद्याराज्ञियों का समागम कहा जा रहा है, यथा- ऊर्णा भ्रूलोचना" इत्यादि सत्ताईस (विद्याराज्ञी) कहे गए हैं। इस प्रकार विद्याराज्ञी अनन्त हैं, परन्तु **त्रिसमयव्यूह** में चार (विद्याराज्ञियों) के अतिरिक्त नहीं कहा है।

वैरोचनाभिसम्बोधि (तो० 494) में कहा है[2]—

"मञ्जुश्रीमूलकल्प के मण्डल न्यास के समय उष्णीष-चक्रवर्ती, अभ्युद्गतोष्णीष, उष्णीष-सितातपत्र, जयोष्णीष, विजयोष्णीष, (कमलोष्णीष), तेजोराश्युष्णीष और उन्नतोष्णीष ये आठ (उष्णीषराज) कहे गये हैं"।

निदान[3] (मञ्जुश्रीमूलकल्प प्रथम परिवर्त) में अनन्तपत्र आदि पच्चीस (उष्णीष राजाओं) की गणना की गई है। इस प्रकार अनन्त (उष्णीषराज) कहे गये हैं। इन्हें भी विद्याराज के अन्तर्गत संगृहीत करना चाहिए, कहा है।

---

1. विद्याराज्ञीनां समागमं वक्ष्यते। तद्यथा—ऊर्णा भ्रूलोचना....., पृ० 7
2. द्र०-मञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० 28, तद्यथा—चक्रवर्ती, उष्णीषः, अभ्युद्गतोष्णीषः, सितातपत्रः, जयोष्णीषः, कमलोष्णीषः, तेजोराशिः, उन्नतोष्णीष इति।
3. द्र०-मञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० 6

क्रोधकुल के प्रधान (अधिपति) यमारि और क्रोध-उष्णीष चक्रवर्ती हैं। इनसे सम्बद्ध अनन्त क्रोध(देव) हैं।

क्रोधिनीकुल की (देवियाँ) वेताली और अपराजिता आदि हैं।

दूतकुल में (जैसा कि) **त्रिसमयव्यूह** में कहा है— "अतिबल, महापूजोत्तम, अतिवज्र, चण्डानलबाहु, समयवज्र और महावज्रदर्शिन् इत्यादि दस (दूत) हैं।

दूतीकुल में महाक्रोधिनी, महाप्रचण्डी, अनन्तवज्री, मालिनी, सर्ववज्री, अतिवज्री, वज्रापराजिता, सुप्रतिष्ठिता, असमासनिकी, त्रिबलाङ्गा, अनङ्गवज्री", ये ग्यारह (दूतियाँ) कही गईं हैं। **मञ्जुश्रीमूलकल्प**[1] में केशिनी और उपकेशिनी आदि (दूतियों) को कहा है।

(वस्तुतः) चेट, प्रेषक एवं किंकर सभी समानार्थक हैं। इनका प्रधान (नायक) क्रोधाचल है। अन्य भी जैसे-महाबलवेग, अनलबाहुवर्णचेट, व्याडचल, समयी, अजितबल, असमबलदर्शिन्, मातङ्ग, मत्तगामिन्, अनन्तवज्र, अचल, कृतान्तक, अनन्तक, (आदि) बारह (चेट) **त्रिसमयव्यूह** में कहे गए हैं। वहीं (**त्रिसमयव्यूह**) में चेटी (के विषय में) कहा है—"वज्राङ्गना, पट्टिका, सिद्धिका, अतिवेगानन्ता, सार्थवाहिनी, मत्तगामिनी, अचिन्त्यवीरा, पाण्डरधर्मिणी और त्रिजटी", नौ (चेटियाँ) हैं।

बोधिसत्त्व(कुल)— **मञ्जुश्रीमूलकल्प**[2] में मण्डल में सोलह (बोधिसत्त्वों का) न्यास करने के लिए कहा है तथा **त्रिसमयव्यूह** में उन्तीस (बोधिसत्त्वों) का वर्णन है।

शुद्धावासिक(देवकुल) को तथागतकुल के मण्डल में अभिषिक्त करते हुए, अवैवर्तिक भूमि में स्थित तथागतकुल के महामण्डलों में न्यास किया गया है। (इसमें) शुद्धावासिक देव से लेकर नाग और गरुड़ पर्यन्त हैं। जैसा कि **वैरोचनाभिसम्बोधि** (तो० 494) में कहा है— "शुद्धावासिकों को (महामण्डलों में) लिखें, सर्वावैवर्तिकेश्वर और मालाप्रभ, मनोजव और विघुष्ट इन सभी को भी भलीभाँति लिखें"।

इस प्रकार, इन देवताओं में से किसी को भी समूह या पृथक् रूप में मुख्य अभिधेय के आधार पर देशित तन्त्र ही तथागत कुल है।

---

1. म० मू० क०, पृ० 8
2. वहीं, पृ० 28

पद्मकुल— पद्मकुल का प्रधान अमिताभ है, ऐसा गुरुओं ने कहा है। देशक या कुल-अधिपति अवलोकितेश्वर है। विद्याराज हयग्रीव विद्यामन्त्र-अधिपति है। **श्रीसंवरोदय** आदि तन्त्रों में कहा है—"जितने भी प्रतिष्ठित मण्डलोदय हैं, उसी नाम के मण्डल हैं; केवल हयग्रीव का ही नहीं है। द्वादशभुज विद्याराज, (उसी प्रकार) षोडशभुज (विद्याराज), उष्णीषमुकुट, कामाश्लेषक, चतुर्मुख, अमोघपाश और पूर्वोक्त हयग्रीव (आदि) सात, पृथ्वी पर साधकों के कर्म और क्लेश का दहन कर अभ्युदयश्री को प्रज्वलित करने वाला गुह्यमन्त्र सात सूर्य की तरह प्रकाशमान हैं"।

मञ्जुश्रीमूलकल्प[1] में कहा है—

"पद्मकुल के विद्याराज इस प्रकार हैं- भगवान् द्वादशभुज, षोडशभुज, चतुर्भुज, हालाहल, अमोघपाश, श्वेतहयग्रीव, अनन्तग्रीव, नीलग्रीव, सुग्रीव और सुकण्ठ आदि तैंतीस और अन्य भी अनन्त (विद्याराज) कहे गए हैं"।

मातृकुल में तारा एवं पाण्डरवासिनी दो प्रधान (नायिका) हैं। तारा के सात कुल हैं, जैसा कि **सूक्ष्मविधि** में कहा है— "तारा सात (कुलों) में संगृहीत होता है"।

पाण्डरा, विलोकिनी, एकजटी, शुभ्रवस्त्रा, यशोवती और भृकुटी ये आठ पद्मकुल के देवी कहे गए हैं। इनमें क्रोधी एवं दूतिका सहित नायिका भी संगृहीत हैं।

क्रोधकुल में अमोघराज, क्रोधहयग्रीव और क्रोधनीलकण्ठ आदि हैं। जैसा कि **सूक्ष्मविधि** में कहा है—"वज्रकाय और महाबल, हयग्रीव और नीलकण्ठ तथा वडवामुख" इत्यादि, इनमें से कोई भी एक हो सकता है।

क्रोधिनीकुल में भृकुटी और पर्णशबरी आदि हैं। जैसा कि **मञ्जुश्रीमूलकल्प**[2] में कहा है—"विद्याराज्ञियों में पर्णशबरी, जाङ्गुली और मानसी आदि हैं"।

दूतकुल में क्रोधमूर्ध्निज्वाल आदि हैं। दूतीकुल में जैसा कि **सूक्ष्मविधि** में कहा है— "अनुपमा दूतदूती, अभयश्री और सरस्वती, पद्मा, सूत्पल और पद्मदन्ती उसी

---

1. अब्जकुले च विद्याराजः। तद्यथा—भगवान् द्वादशभुजः, षड्भुजः, चतुर्भुजः हालाहलः अमोघपाशः श्वेतहयग्रीवः नीलग्रीवः सुग्रीवः सुकर्णः श्वेतकर्णः नीलकण्ठः लोककण्ठः विलोकितः अवलोकितः .... । (म० मू० क०, पृ० 7)

2. "---विद्याराज्ञीभिः पर्णासवरिजाङ्गुलिमानसी प्रमुखैः ---।" (प्रथम परिवर्तः, पृ० 7)

प्रकार.....।'' इत्यादि बतलाए गए हैं। एकजटी राक्षसी प्रधान (नायिका) है। इसके पश्चात् अनुपमा, अभया, श्रीदेवी, सरस्वती, सुपद्मकुली, मन्त्रानुसारिणी, विकृतानना, वसन्ती, शङ्खिनी, चण्डालिनी, पुष्पदंष्ट्री, दंष्ट्राकराली, स्थावरी, सौम्या, निशादेवी, वसुदेवी, पुष्पदेवी और फलदेवी इत्यादि को भी **सूक्ष्मविधि** में कहा गया है।

वज्रकुल— अक्षोभ्य वज्रकुल का प्रधान (नायक) है, ऐसा गुरुओं ने कहा है। बुद्धगुह्य ने भी कहा है—''त्रिकुल भेद के अन्तर्गत वज्र(कुल) में अक्षोभ्य, वज्रपाणि, अमृत तथा मामकी और शृंखला'' इन को प्रधान (नायक एवं नायिका) में संगृहीत किया है।

अधिपति-कुल— अधिपतिकुल में (सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र में उक्त) विद्योत्तम तथा आदि शब्द से संगृहीत के द्वारा **वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र** में कहे गए गोकर्ण, सुम्भ, भीषण, हरि और वज्रपाश हैं और इनका अनुसरण करने वाले अनेक हैं। परमहृदयाष्टक को जैसा कि **महाबलसूक्ष्मविधि** (तो० 757) और **विजयमहातन्त्र** में कहा है—''कीलिकील, गरुड़, रक्तकाय, वज्रविदारण, वैपुल्यवज्र, परमहृदय, अपलालमुसल और श्रीमान् सूक्ष्मकीर्ति हृदय हैं''। इन देवताओं को वज्रपाणि के चित्त के आठ विशिष्ट गुणों में विभक्त किया जाता है।

मातृकुल— मातृकुल की प्रधान (नायिका) मामकी है। **विद्योत्तममहातन्त्र** (तो० 746) में कहा है— ''इसके बाद वज्रकुल की मातृ विद्यामन्त्र(राज्ञी) वज्राङ्कुशी का जाप (करें), उसके पश्चात् शिखी का भी .....''। इस प्रकार इस कुल के अन्तर्गत विद्या-मन्त्रराज्ञी जयवती और **वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र** (तो० 496) में कहे गए वज्रानलप्रमोहिनी आदि हैं।

क्रोधकुल— रौद्र क्रोध **(आर्य) विद्योत्तममहातन्त्र** (तो० 746) में वर्णित आठ गणों को कहा जाता है, जैसे— अमृतकुण्डलि, जम्भन, कोट्ट, नामदत्त(सत्य), लोहक, दन्तक, सुवर्णक और चण्डक। अन्य भी, **वज्रपाणिदशपुत्र** (तो० 754) और **(आर्य) वज्राजितानलप्रमोहिनी (नाम धारणी)** (तो० 752, 954) में कहे अनुसार वज्रसेनापति और भूपाल आदि हैं। सुसिद्धि, त्रिशूकशीर्षालङ्कार, बलकीलिकील, सुरूप, वज्रबिन्दु, ललितवज्र आदि सात विद्याराजाओं को **(सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र) टीका** (तो० 2673) में **वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र** से उद्धृत किया है।

क्रोधिनी कुल— **विद्योत्तममहातन्त्र** (तो० 746) में कहा है— ''सात विद्यामन्त्र अंगों सहित सात विद्यामन्त्र नायिकाओं को रागवज्रधर ने कहा है। पहला, रागवज्री, दूसरा विद्यामन्त्र वज्रपुष्पोपम कर्माग्र है। ऋद्धि और बल से युक्त, वज्रनिगड, मेखला, चण्डाली, पिङ्गला और उसी प्रकार वज्रदुर्धृष्य (आदि), इन सात महाविद्यामन्त्र नायिकाओं के बल सात सूर्यों के सदृश हैं''।

प्रधान कुल—(इस कुल की) प्रधान (नायिका) वज्रशृंखला है।

दूतकुल—दूतकुल क्रोध उच्छुष्म अर्थात् भूर्कंकूट है और इनके अनुरूप अन्य भी क्रोध (देवता) हैं।

दूतीकुल—दस दूतीकुल को **विद्योत्तममहातन्त्र** (तो० 746) में कहा है, यथा— ''पहला वज्रमती, दूसरा वज्रघण्टी, तीसरा वज्रकाली, चौथा अपराजिता, पाँचवां वज्रलीला, छठा चञ्चला, सातवाँ वज्रवेगा, आठवाँ वज्रसूर्या, नवाँ वज्रदण्डी, इसे विश्वरूपा भी कहा जाता है और दसवाँ सत्यवज्री है''।

चौंसठ किंकर—उपर्युक्त दस दूतियों की दासियाँ चौंसठ किंकर हैं, जैसा कि **विद्योत्तममहातन्त्र** (तो० 746) में कहा है—''दस दूती गणों की चौंसठ दासियाँ मानसी (मनोद्भव) हैं''। इनका मन्त्र **विद्योत्तममहातन्त्र** में कहा है परन्तु वहाँ भी इनके नाम स्पष्ट नहीं हैं, टीका में भी वज्रवत् इत्यादि कहा है। परन्तु यह विद्योत्तममहातन्त्र में प्रतिसेना देवी के रूप में है। **धर्मराज साक्या** (पण्डित) ने हेवज्री (नैरात्म्या) और अमोघवज्री इत्यादि को माना है।

मणिकुल

मणिकुल में मणिभद्र सहित यक्ष, जम्भल सहित आठ यक्ष , वसुधारा सहित आठ यक्षिणी, वैश्रवण (सहित) आठ यक्ष और अट्ठाइस सेनापति आदि हैं। संक्षेप में कहें तो (मणिकुल में) मणिभद्र सहित यक्ष गण हैं।

पौष्टिक कुल

पौष्टिक कुल में पाँच सौ हारितीपुत्रों सहित पञ्चिक और चार महाराक्षसी आदि हैं। पञ्चिक की पत्नी हारिती जो 'मेखला' (शब्द से भी अभिहित है), इस (हारिती) शब्द

का भोट भाषा में 'होगपगचन' अर्थात् मेखला अनूदित है। (इस कुल में) विद्येश्वर द्वारा (हारिती को) गुह्यमन्त्रेश्वरी के रूप में अभिषिक्त किया है।

लोककुल

लोककुल में सुर एवं असुर आदि हैं।

प्रयोजन भेद

तथागतकुल— प्रधानतया तथागतकुलों द्वारा देव, असुर और मनुष्यों को परम वर प्रदान कर हित करने के लिए है।

पद्मकुल— पद्मकुल द्वारा मनुष्यों को आठ परम वर आदि प्रदान करने एवं पाताल, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष तीनों लोकों के अमृत को प्राप्त करने के लिए हैं।

वज्रकुल— (यह कुल) गुह्यक यक्षों के दमन करने, असुरों के श्रीद्वार का उद्घाटन करने तथा निधियों को उत्खात कर दरिद्रता के दु:खों का निवारण करने के लिए है।

मणिकुल— मणिकुल के तन्त्रों की साक्षात् देशना नहीं दी गई है, फिर भी **सुबाहुपरिपृच्छानाम तन्त्रपिण्डार्थवृत्ति** (तो० 2673) में इस प्रकार कहा है— "सत्त्वों के दरिद्रता के दु:खों के निवारणार्थ श्रीमणिभद्र आदि अक्षयमणिनिधि-तन्त्रों को अधिष्ठित कर कहा है"।

पौष्टिक कुल— **विद्योत्तममहातन्त्र** (तो० 746) में कहा है— "युद्ध में विजय प्राप्त कराने और पौष्टिक-कर्मों, वाद-विवाद और कलहों तथा रक्षा कर्मों और वशी-साधनों तथा विवाहों के लिए---इत्यादि"। इस प्रकार मेखला के कर्मों में कहे, इनके (पौष्टिककुल के) लिए है।

लोककुल— लोककुल को अपनी-अपनी परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार जानना चाहिए।

ग्रन्थ प्रमाण भेद—

तथागतकुल और पद्मकुल प्रत्येक में तीन करोड़ पाँच लाख (ग्रन्थ प्रमाण) हैं। वज्रकुल में सात करोड़, मणिकुल में एक लाख तीस हज़ार, पौष्टिककुल में पच्चीस हज़ार

और लोककुल में अनन्त (असंख्य) हैं। यह संख्या श्लोकों के प्रमाण की हैं, ऐसा **सुबाहुपरिपृच्छानाम तन्त्रपिण्डार्थवृत्ति** (तो० 2673) नामक टीका में कहा है ।

मन्त्र भेद—

सुबाहुपरिपृच्छा(तो० 805) में कहा है— "तीनों लोकों में जिन(बुद्ध) रत्न हैं, उसके पश्चात् उनका उपदिष्ट धर्म और उनके आठ महापुरुषों का संघ—ये त्रिरत्न तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। (तथा) त्रिलोक में पुण्य वृद्धि के हेतु हैं। अत: सिद्धि के इच्छुक (साधक) गुह्यमन्त्रों के प्रारम्भ में (त्रिरत्न का) पाठ करें। (तथा) अधिक पुण्य (अर्जन) करने और विनायक को मोहित करने हेतु 'परम रौद्र वज्रपाणि को प्रणाम' अर्थात् नमश्चण्डवज्रपाणये, (इस नमस्कार वाक्य को) गुह्यमन्त्रों के प्रारम्भ में योग करें, ऐसा मैं यक्षनाथ कह रहा हूँ। (अत:) मणिकुल और पद्मकुल में भी अपने-अपने गुह्यमन्त्रों के अधिपति से युक्त होवें"।

इस प्रकार तथागतकुलों के गुह्यमन्त्रों के प्रारम्भ में 'नमो रत्नत्रयाय' अथवा 'नमो बुद्धाय नमो धर्माय और नमो संघाय' इत्यादि 'त्रिरत्न नमस्कार वाक्य' अधिकांश (तथागतकुलों से सम्बद्ध ग्रन्थों) में होता है। (इन कुलों के ग्रन्थों में) जहाँ नहीं हैं, वहाँ भी जोड़ने के लिए कहा गया है। ये (त्रिरत्न नमस्कार वाक्य, तथागतकुल के) सभी पाँचों कुलों के (गुह्यमन्त्रों के) प्रारम्भ में होते हैं।

पद्मकुल— पद्मकुल के (गुह्यमन्त्र) विशेषकर 'नमो आर्यावलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय' इत्यादि अवलोकितेश्वर के नमस्कार वाक्यों से प्रारम्भ होते हैं।

वज्रकुल— वज्रकुल के (गुह्यमन्त्र) 'नमश्चण्डवज्रपाणये महायक्षसेनापतये' इत्यादि वज्रपाणि के नमस्कार वाक्यों से प्रारम्भ होते हैं।

मणिकुल— मणिकुल के (गुह्यमन्त्र) 'नमो मणिभद्राय महायक्षसेनापतये' इत्यादि मणिभद्र और 'नम: कुबेराय' इत्यादि वैश्रवण के नमस्कार वाक्यों से प्रारम्भ होते हैं।

पौष्टिक कुल— पौष्टिककुल के (गुह्यमन्त्र) पञ्चिक का 'नम: पञ्चिकाय' और मेखला का 'नमो मेखलाय' नमस्कार वाक्य से प्रारम्भ होता है।

लोककुल— लोककुल (के गुह्यमन्त्रों का) अपने-अपने अधिपतियों को नमस्कार करने से कोई निश्चित (नमस्कार वाक्य) नहीं है।

क्रियातन्त्र में असंगृहीत गुह्यमन्त्रों की देशना—

जैसा कि **सुबाहुपरिपृच्छा** (तो० 805) में कहा है— ''उसके पश्चात् अन्य भी लोककुल में संगृहीत कर प्रसंगवश निर्देश किये हैं, इसे आप सुनें। रुद्र द्वारा दस करोड़ (गुह्यमन्त्रों की) देशना दी। वासुदेव ने तीस हज़ार, ब्रह्मा ने साठ हज़ार और सूर्य ने तीन लाख (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। गरुड़ ने अट्ठारह हज़ार और चण्डालिनी (अर्थात् भगवती) ने आठ हज़ार (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। अग्नि ने भी सात सौ और त्रिस्कन्द ने एक हज़ार (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। नागराजाओं ने पाँच हज़ार और निशाचरों ने बारह हज़ार (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। चार लोकपालों ने जगत् हित के लिए चार लाख (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। असुरेन्द्र ने दो लाख और देवाधिपति ने भी तीन लाख (गुह्यमन्त्रों) की देशना दी। गुह्यमन्त्र, विविध मुद्रा एवं विधि से युक्त और अपने-अपने आगम-मण्डलों सहित तथा स्व मन्त्रवज्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने से, विना प्रयास और संशय से सिद्ध होते हैं''।

इस प्रकार, बौद्ध मन्त्र-तन्त्रवर्ग की देशना के दौरान बुद्ध के द्वारा विनीत (देवों) ने 'समय' में स्थित होकर अर्थात् समय का पालन करते हुए बुद्ध को मन्त्र अर्पित किये, (उन) अधिष्ठित(मन्त्रों) को भी बुद्धवचन माना जाता है। परन्तु, बुद्ध के लोक में अप्रादूर्भूत काल तक, लौकिक देव (को) रुद्र और वासुदेव को विष्णु तथा चण्डालिनी को लौकिकविद्यामन्त्र देवी भाग्यवती कहा जाता है। त्रिस्कन्द को मातंगराज (चण्डाल), निशाचरेन्द्र को यक्षसेनापति, चार लोकाधिपतियों को चातुर्महाराज कहा जाता है। अन्य (देव) सुबोध हैं। इन सभी (देवों) को अपने-अपने आगमों के अनुसार, अन्य विधियों से विना मिश्रित किए, अपने-अपने देवताओं के प्रति श्रद्धा कर, संशय रहित होकर सिद्ध करे तो सिद्धि मिलेगी, ऐसा नहीं करने पर दुःख का कारण बनेगा। इस प्रकार के मन्त्र-तन्त्रों को इन कुलों में अर्थात् तथागतकुल आदि में संगृहीत नहीं करना चाहिए।

II. तीन कुलों में संग्रह—

इस प्रकार ये छह कुल भी तीन कुलों में संगृहीत होते हैं, जैसा कि **आर्यसुबाहुपरिपृच्छानाम तन्त्रपिण्डार्थवृत्ति** (तो० 2673) में कहा है— ''मणिकुल पद्मकुल

में संगृहीत होता है, (और) पौष्टिककुल वज्रकुल में। लोककुल को भी प्रायः इनमें (पद्म एवं वज्र में) संगृहीत जानना चाहिए। जो इनमें संगृहीत नहीं हैं, वे तथागत के अधिष्ठान से उत्पन्न भी नहीं हैं और न ही बुद्धक्षेत्र में अन्य (कुलों) की तरह सुगत के ही कुल में उत्पन्न हैं। अतः इन्हें तथागतकुल में आश्रित माना जाता है।"

यदि लक्षण एवं मन्त्र को देखें तो लगता है कि मणिकुल और पौष्टिककुल दोनों वज्रकुल में संगृहीत हैं। जैसे कि, **सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र** (तो० 805) में कहा है— "कुछ मेरे (अर्थात् तथागत)कुल के अन्तर्गत हैं, और कुछ पद्मकुल के, कुछ मणिकुल के तथा कुछ अन्य (जिनके) स्थान निश्चित नहीं हैं, वे परिभ्रमण करते रहते हैं। मणिचर्या नाम वाले को मणिकुल में कहा है। मैं (तथागत) वज्रकुल में प्रदर्शित हूँ। अवलोकितेश्वर पद्मकुल के अन्तर्गत हैं, तथा चौथे कुल में यहाँ पञ्चिक हैं"।

लोक(कुल) द्वारा अर्पित किये गए कुछ गुह्यमन्त्र, चार कुलों में स्थान निर्धारित नहीं होने से परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः इन्हें विपरीत कुल के रूप में माना गया है। यदि ऐसा है तो क्या तथागतकुल में भी संगृहीत नहीं होते? क्योंकि, इस कुल के अन्तर्गत उष्णीष आदि ज्ञान से उत्पन्न हुए हैं, जबकि यह (लोककुल) विपाक से उत्पन्न होने से कुल में साक्षात् संगृहीत नहीं है। तथापि, श्रद्धापूर्वक बुद्ध को विद्यामन्त्रविधि अर्पित करने से तथागतकुल पर आश्रित ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार, (यह कुल) पाँचों कुलों में साक्षात् रूप से संगृहीत नहीं होने से परिभ्रमण करता रहता है, अतः इसे परिभ्रमणकुल भी कहा जाता है। ऐसा **(आर्यसुबाहुपरिपृच्छा) शब्दार्थवृत्ति** (तो० 2672) में कहा गया है।

इस सम्बन्ध में **सुबाहुपरिपृच्छा** (तो० 805) में भी कहा है— "इनमें भी कुछ जिनका स्थान निर्धारित नहीं है, सुगत पर आश्रित होकर परिभ्रमण करते हैं। उन सभी (कुलों) की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य, इस सूत्र अर्थात् सुबाहुपरिपृच्छासूत्र में कहे अनुसार प्रयोग करें"।

इस प्रकार, पाँच आर्यकुल और लोककुल इन छहों को सुबाहुपरिपृच्छा में निर्देशित विधि के अनुसार जोड़ने के लिए कहा गया है।

III. क्रियातन्त्र का प्रज्ञा एवं उपाय दो पक्षों में संग्रह

इस प्रकार छह या तीन (कुलों) में संगृहीत (क्रिया)तन्त्र का पुनः संग्रह करें तो गुह्यमन्त्र और विद्यामन्त्र इन दो में संगृहीत हो जाते हैं।

गुह्यमन्त्र, उपाय पितृ(देव) प्रधान तन्त्र है। विद्यामन्त्र, प्रज्ञा मातृ(देवी) प्रधान तन्त्र है। उपर्युक्त दोनों (तन्त्रों) का अर्थ स्मरण और प्रज्ञा द्वारा अधिगम कर विना विस्मरण के धारण कर, दोनों का संग्रह अथवा एक ही मन्त्र में दोनों देवी एवं देवता का मन्त्ररूप होना धारणी है। वह भी(गुह्यमन्त्र एवं विद्यामन्त्र), परमार्थ में प्रज्ञा और उपाय के अद्वयज्ञान रूप तत्त्व को जानने और जगत् (सत्त्वों) का पालन करने या मन की रक्षा करने के कारण गुह्यमन्त्र कहलाता है। तथा, अविद्या को हटाकर विद्या को उत्पन्न करने से विद्यामन्त्र कहलाता है। अत: गुह्यमन्त्र और विद्यामन्त्र शब्द से जितने भी मातृ एवं पितृ देवी-देवता कहे गये हैं, उन सभी से प्रज्ञोपाय अद्वयतन्त्र को बतलाया गया हैं।

वज्रयान-अन्तद्वयनिराकरणनाम तन्त्र (तो० 3714) में ज्ञानश्री ने कहा है— "यहाँ पितृ देवता गुह्यमन्त्र है और मातृ (देवी) विद्यामन्त्र। एक ही मन्त्र में मातृ एवं पितृ दोनों देवताओं के मन्त्र रूप को धारणीमन्त्र कहा जाता है। पुन:, एक ही मन्त्र में इन तीनों अर्थात् धारणीमन्त्र, गुह्यमन्त्र एवं विद्यामन्त्र के अंश पूर्ण होने और एक ही देवता में तीनों (प्रकार) के मन्त्रों के भी (अंश) पूर्ण होने तथा विद्यामन्त्र और धारणीमन्त्र दोनों को देवी के रूप में भी स्वीकार्य होने से सर्वत्र (स्वरूप) निश्चित नहीं है"।

चर्यातन्त्र

चर्यातन्त्र की व्यवस्था का पृथक् रूप से निर्देश नहीं मिलता है, फिर भी यह प्राय: क्रियातन्त्र के सदृश ही है।

•

बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (4)

—रञ्जनकुमार शर्मा—

[इससे पूर्व 'धीः' के 36, 37, 38वें अकों में बौद्ध, जैन तथा वैदिक सम्प्रदाय की वैदिकी-दीक्षा (उपनयन संस्कार) के दीक्षा क्रम को दे चुके हैं। प्रस्तुत अंक में वैदिकी-दीक्षा के अन्तर्गत वैष्णवों के वैखानस तथा पाञ्चरात्र सम्प्रदायों की दीक्षा-विधि का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है। इसमें विशेषतः मण्डल निर्माण, प्रतिष्ठा, द्वादशी कृत्य, शिष्य के नियम, आचार्य के लक्षण आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।]

वैष्णव-दीक्षा

वैष्णवागम विशेष रूप से तीन हैं—वैखानस, पाञ्चरात्र तथा भागवत और सम्प्रदाय दस हैं। जैसा कि कहा गया है—

[1]वैखानसो भवेदादौ श्रीराधावल्लभस्तथा ।
गोकुलेशो महेशानि! तथा वृन्दावनी भवेत् ॥

पाञ्चरात्रः पञ्चमः स्यात् षष्ठः श्रीवीरवैष्णवः।
रामानन्दी हरिव्यासी निम्बार्कश्च महेश्वरि ॥
ततो भागवतो देवि दशभेदाः प्रकीर्तिताः ॥

(शक्तिसंगमतन्त्र, 1.8.38-40)

रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि का समावेश भी उपर्युक्त में ही हो जाता है। किन्तु इनके दार्शनिक सिद्धान्तों में अन्तर होता है, साधनाविधि में अधिक अन्तर नहीं होता है।

दीक्षा

समस्त तान्त्रिक सम्प्रदायों में 'दीक्षा' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैष्णवों में भी 'दीक्षा' के विना वैष्णवत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। वैष्णव-तन्त्रों में कहा गया है—

---

1. (क) आगम-मीमांसा-पं० व्रजवल्लभद्विवेदः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, नई दिल्ली, पृ० 8
(ख) पुरश्चर्यार्णवः—पं० मुरलीधर झा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 27-28

यद् द्यति क्लेशकर्मादीनीक्षयत्यखिलं पदम् ॥
क्षपयित्वा मलं सर्वं ददाति च परं पदम् ।
दीक्षेति तेन तत्त्वज्ञैर्वर्ण्यते वेदपारगैः ॥ (लक्ष्मीतन्त्र, 41.5-6)

और भी—

दीयन्ते सिद्धयः सर्वाः क्षीयन्ते ग्रन्थयोऽप्यतः ।
दीक्षात्वमेव दीक्षाया धर्माधर्महृदात्मनः ॥[1] (विष्णुसंहिता, 10.2)

अर्थात् 'दीक्षा' क्लेशादि मलों का नाश तथा सभी सिद्धियाँ एवं मोक्ष प्रदान करती है।

वैखानस व पाञ्चरात्र आगम की दीक्षा-विधि भिन्न-भिन्न है, जो क्रमशः इस प्रकार है—

वैखानस-दीक्षा

वैखानस आगम के अनुसार वैखानस, साक्षात् विष्णु से 'दीक्षा' ग्रहण करते हैं। इन्हें 'गर्भवैष्णव' कहा जाता है। इनके लिये 'गर्भचक्र' नामक एक विशेष संस्कार है। जैसा कि कहा गया है—

वैखानसानां सर्वेषां गर्भचक्रमुदाहृतम् ॥
यो विष्णुबलिसंस्काराद् गर्भचक्रेण लाञ्छितः ।
स गर्भवैष्णवो जातमात्र इत्युच्यते बुधैः ॥

(आनन्दसंहिता, 8.10-11)

यह संस्कार 'विष्णुबलि' के नाम से भी जाना जाता है। वैखानस गर्भ के आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन संस्कार के साथ इस संस्कार को करते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य गर्भ की रक्षा करना है। इस क्रिया में हवन आदि करने के पश्चात् गर्भिणी को पहले से ही विष्णुचक्र डुबा हुआ पायस (खीर) खिलाया जाता है। पायस-पान कराते समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है—

त्वत्सुतो भाग्यवान् धन्यो गर्भवैष्णवसंज्ञितः ।
अप्राकृतो महात्मासौ गर्भचक्रेण लाञ्छितः ॥ (आनन्दसंहिता, 10.1)

इसके पश्चात् भगवान् विष्णु स्वयं ही गर्भस्थ शिशु को शंख, चक्र आदि से चिह्नित करते हैं।

---

1. श्रीप्रश्नसंहिता, 16.18-19

जैसा कि कहा गया है—

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम् ।
तत्करस्थेन चक्रेण शङ्खेन प्रथितौजसा ॥

करोति चक्रशङ्खाङ्कं शिशोर्वै बाहुमूलयोः ।
वैखानसेन सूत्रेण स्यादयं गर्भवैष्णवः ॥ (क्रियाधिकार,36.43-44)

और भी—

निसर्गवैष्णवाः शुद्धाः जन्मनाचार्यसंज्ञिताः ।
विखना इति वै विष्णुस्तज्जा वैखानसाः स्मृताः ॥

(क्रियाधिकार, 36.28)

वैखानस वैष्णव के लिये तप्त मुद्रांकन, शीतल मुद्रांकन, मन्त्रदीक्षा आदि का कोई विधान नहीं है। यदि किसी ने धन के लोभ, अज्ञान या मोहवश तप्त मुद्रांकन किया है, तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[1]

भगवान् की पूजा का अधिकारी होने के लिये क्रियाधिकार में मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक तीन दीक्षाओं का वर्णन किया गया है। भूतशुद्धि आदि से मानसिक, चक्राब्ज-मण्डल में मन्त्रजप आदि से की गयी वाचिक तथा तप्तमुद्रांकन से अंकित शारीरिक दीक्षाएँ कही जाती हैं। क्रियाधिकार के अनुसार तप्तमुद्रांकन से अंकित शारीरिक दीक्षा वैखानस मत में स्वीकृत नहीं है।

आनन्दसंहिता में इनसे भिन्न तीन दीक्षाओं—गर्भचक्रदीक्षा, बहिस्तप्तचक्रदीक्षा तथा न्यासचक्रदीक्षा एवं उसके अधिकारियों का वर्णन किया गया है।[2]

इन दीक्षाओं में वैखानसों के लिये 'गर्भचक्र' पाञ्चरात्रों के लिये 'बाह्यतप्तचक्र' तथा भागवतों के लिये 'न्यासचक्र' (जल से चक्र का आकार बनाना) दीक्षा का विधान है। तप्तमुद्रा के भी दो भेद हैं। जैसा कि कहा गया है—

---

1. आनन्दसंहिता, 19.13-14
2. (क) 'वैखानस आगम'—डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, भारतीय तन्त्रशास्त्र, के० उ० ति० शि० संस्थान, सारनाथ, पृ० 409
   (ख) तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन—पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, पृ० 82-83

पुनश्च तप्तचक्राब्जमुद्रा द्वेधा स्मृता बुधैः ॥
अन्तस्तापो बहिस्ताप इति तापो द्विधा भवेत् ।

(आनन्दसंहिता, 8.30-31)

अर्थात् तप्तचक्रमुद्रा और तप्ताब्जमुद्रा। ताप के भी दो भेद हैं—अन्तस्ताप तथा बहिस्ताप। 'अन्तस्ताप' वैखानसों और 'बहिस्ताप' पाञ्चरात्रों की 'दीक्षा' है।

वैखानस प्रमुख रूप से वेद का अनुसरण करते हैं। इनके सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं लौकिक संस्कार वैदिक मन्त्रों के द्वारा ही किये जाते हैं। इसलिए इनके आगमों में तान्त्रिक बीजाक्षरों—हुँ, फट् आदि के प्रयोग नहीं होते। [1]मुद्रा, मन्त्रोद्धार, मातृकाचार भी यहाँ समाविष्ट नहीं है।

[2]मरीचि-कृत 'विमानार्चनकल्प' के अनुसार 'ओमेति ब्रह्म' इस वेद-वाक्य के आधार पर मन्त्रों का प्राण 'प्रणव' ब्रह्मस्वरूप है। 'प्रणव' का त्रिमार्ग या एकमात्र रूप में सभी मन्त्रों के जप के आरम्भ और अन्त में तीन-तीन बार उच्चारण करना चाहिये। यदि 'प्रणव' के विना जप किया जाता है, तो सब विनष्ट हो जाता है। इसलिए मन्त्रों में 'प्रणव' का विशेष महत्त्व है।

वैखानस-दीक्षा के विधि-विधान को आनन्दसंहिता, क्रियाधिकार, विमानार्चन-कल्प आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से देखा जा सकता है।

पाञ्चरात्र-दीक्षा

पाञ्चरात्र-संहिताओं में 'दीक्षा' के मुख्य दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष।

सामान्य दीक्षा के तीन भेद हैं—संक्षिप्त, मध्यम तथा अतिविस्तृत। संक्षिप्त-दीक्षा अल्पकालिक और भोग एवं संकट प्रदान करती है। मध्यम-दीक्षा के द्वारा मध्यम भोग तथा काल की प्राप्ति होती है और अतिविस्तृत-दीक्षा होमपूजा के प्रभाव से अनन्त भोगफल देने वाली है।

विशेष-दीक्षा पाँच प्रकार की है—समयी, पुत्रक, साधक, आचार्य तथा अङ्गना। इन सभी दीक्षाओं में तत्तन्मन्त्रों द्वारा तत्त्व-संयोजन आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है और उसी के तारतम्यादिभाव के आधार पर ये दीक्षा-भेद कल्पित हैं। जैसा कि कहा गया है—

---

1. 'वैखानस आगम'—डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ० 422
2. वहीं, पृ० 417-418

सर्वेषां केवलैर्मन्त्रैर्मान्त्री सामान्यलक्षणा ।
तत्त्वैर्बीजैस्तथा मन्त्रैर्ध्यानेन हवनेन च ॥

सामान्या हि (त्रि?) विधा चान्या सर्वेषां भावितात्मनाम् ।
संक्षिप्ता मध्यमा सा च तृतीया चातिविस्तरा ॥

क (अ?)ल्पकालं च संक्षिप्ता भोगं यच्छति सङ्कटम् ।
मध्यमा मध्यमं भोगं तथा कालं प्रयच्छति ॥

अनन्तभोगफलदा भवेद्भोगाभिलाषिणाम् ।
प्रभावाद्धोमपूजाभ्यां विस्तीर्णा कालमक्षयम् ॥

समत्वमपवर्गे तु भवेद्दीक्षात्रयस्य च ।
विशेषाख्या च या दीक्षा पञ्चधा सा व्यवस्थिता ॥

प्रथमा समयज्ञानां बलानां विष्णुचेतसाम् ।
भक्तानां कन्यकानां च द्वितीया पुत्रकेषु च ॥

तृतीया मोक्षमार्गस्था साधकानां तु वै सदा ।
चतुर्थी मुनिशार्दूल ब्रह्मसायुज्यदायिका ॥

देशिकानां तु कर्तव्या अङ्गनानां तु पञ्चमी ।
एतासां क्रमशो वक्ष्ये समत्वं तत्त्वसंग्रहम् ॥

(जयाख्यसंहिता, 16.54-61)

प्रथमतः गुरु 'दीक्षा' देते समय शिष्य को कुछ समयों (सिद्धान्त, नियम) का उपदेश करते हैं। उनका पालन करने वाला शिष्य 'समयी' कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

दीक्षामात्रं प्रविष्टा ये केवले समये स्थिताः ।
अतन्त्रज्ञा अदेवाश्च ते वै समयिनः स्मृताः ॥

(सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, 5.120)

समयों का नियमपूर्वक पालन करने वाले जिस शिष्य को आचार्य पुत्रवत् स्वीकार कर लेते हैं, वह शिष्य 'पुत्रक' कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

दीक्षितानां तु सर्वेषां पुत्रवद् ये प्रतिष्ठिताः ।
दीक्षां प्रविष्टा निर्ग्रन्थाः पुत्रकास्ते प्रकीर्तिताः ॥

(सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, 5.121)

गुरु के द्वारा उपदिष्ट पद्धति से मन्त्र-जप आदि की सहायता से अपने इष्टदेव की आराधना में लगा हुआ शिष्य 'साधक' कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

साधको मन्त्रतन्त्रज्ञस्तन्त्रपाठे विचक्षणः ।
देवताराधने सक्तः सर्वदा तत्परायणः ॥

कर्माणि साधयेन्नित्यं देवपूजाभिरेव च ।
स साधक इति प्रोक्तस्तन्त्रमन्त्रविशारदः ॥

(सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, 5.122-123)

और वही साधक तन्त्र, मन्त्र और संहिताओं का कुशल व्याख्याता हो, गुरु कृपा से 'आचार्य' पदवी को प्राप्त कर लेता है।[1] जैसा कि कहा गया है—

व्याख्याता तन्त्रमन्त्राणां संहितानां च सर्वतः ।
संस्कर्तापि च शिष्याणामाचार्यः सोऽभिधीयते ॥

(सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, 5.124)

और भी—

सर्वेषां समयस्थानां साधकस्तु विशिष्यते ।
साधकानां तु सर्वेषामाचार्यस्तु विशिष्यते ॥

(सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, 5.125)

आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित गुरु के अतिरिक्त, समयी, पुत्रक, साधक, अङ्गना किसी अन्य व्यक्ति को दीक्षित करने के अधिकारी नहीं हैं।

[2]लक्ष्मीतन्त्र तथा जयाख्यसंहिता में अन्य प्रकार से दीक्षा के तीन भेद बताये गये हैं। जैसा कि कहा गया है—

महामण्डलयागेन हवनाद्वाथ केवलात् ।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥
वित्ताढ्यस्याल्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात् । (लक्ष्मीतन्त्र, 41.9-10)

अर्थात् यहाँ भी पुनः तीन प्रकार की दीक्षा के बारे में बताते हुए कहा गया है—1. महामण्डलयागेन (महामण्डल में इष्टदेवता की आराधना के द्वारा), 2. केवलाद् हवनात् (केवल हवन के द्वारा) तथा केवलया वाचा (केवल वाणी के द्वारा)। इनमें महामण्डल याग से दी जाने वाली दीक्षा ही मुख्य है। प्रथम से धनाढ्य, द्वितीय से सामान्य गृहस्थ और

---

1. तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (प्रथम खण्ड)—पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, पृ० 148
2. 'पाञ्चरात्र-दीक्षा का स्वरूप'—डॉ० अशोक कुमार कालिया, भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ० 441-442

तृतीय विधि से द्रव्यहीन को दीक्षित किया जाता है। इसी प्रकार जयाख्यसंहिता में भी कहा गया है—

महामण्डलयागेन वित्ताढ्यानां तु कारयेत् ॥
वित्तयोगविमुक्तस्य स्वल्पवित्तस्य देहिनः ।
संसारभयभीतस्य विष्णुभक्तस्य तत्त्वतः ॥
अग्नौ चाज्यान्वितैर्बीजैः सतिलैः केवलैस्तथा ।
द्रव्यहीनस्य वै कुर्याद्वाचैवानुग्रहं गुरुः ॥ (16.4-6)

व्यावहारिक दृष्टि से वैष्णवों की तापादि-संस्कार-विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नारदीय एवं पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में सभी तापादि-संस्कारों का वर्णन नहीं है। परन्तु ईश्वरसंहिता में संक्षेप रूप से इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं। जैसे—

तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।

इस संस्कार में आचार्य, वैष्णवों की पूजा करके तथा उनकी अनुमति से शिष्य के साथ अग्नि-कुण्ड के समीप जाते हैं। तत्तन्मन्त्रों के द्वारा शंख-चक्र की पूजा करते हैं। आचार्य को शंख-चक्र अपनी दीक्षा के समय गुरुजी से प्राप्त होते हैं। इस पूजा के उपरान्त मूलमन्त्र द्वारा 108 बार घृताहुति देते हैं। इसके पश्चात् अग्नि-कुण्ड में शंख-चक्र डालकर उसकी पूजा करते हैं। पुनः चक्रमन्त्र तथा शंखमन्त्र से 108 या 28 बार होम करते हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ मन्त्रों द्वारा होम होता है। इस हवन के पश्चात् आचार्य, इष्टदेव तथा गुरु-परम्परा का ध्यान कर शिष्य के दक्षिण बाहुमूल को तप्तचक्र द्वारा अङ्कित करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि शिष्य के सव्य बाहुमूल को शंख द्वारा अङ्कित करना चाहिए। तदनन्तर शंख तथा चक्र का स्वमन्त्र से अभिषेक कर मूलमन्त्र द्वारा उसकी पूजा कर पूर्णाहुति की जाती है[1] ।

दीक्षा-विधि

सर्वलक्षणसम्पन्न आचार्य, दीक्षार्थी की अर्हता, दीक्षा के योग्य काल और स्थान का निश्चय करने के पश्चात् दशमी तिथि से द्वादशी तिथि तक दीक्षा-कार्य चलाते हैं। 'दीक्षा' के लिए द्वादशी तिथि सामान्यतया शुभ होती है।

सर्वप्रथम दशमी के दिन मण्डप, वेदि-निर्माण तथा सम्भारार्जन (लाजा, श्वेत सर्षप, फल, श्रीफल, चन्दन आदि सामग्री) का संग्रह किया जाता है। इसके पश्चात् मध्याह्न के समय स्नान करके दीक्षार्थी एक-बार भोजन करता है। जैसा कि कहा गया है—

---

1. ईश्वरसंहिता, 21.284-292

मध्यन्दिने शुचिः स्नात एकभुक्तेन वर्तयेत्। (विश्वामित्रसंहिता, 9.10)

दूसरे दिन अर्थात् एकादशी के दिन आचार्य प्रातः स्नान करने के पश्चात् शुद्ध वस्त्रों को पहनकर श्वेत गन्ध (चन्दन) तथा यथोपलब्ध आभूषणों से विभूषित होकर सायंकाल मण्डप में कलशादि की प्रतिष्ठा करते हैं।

[1]मण्डल-निर्माण

दीक्षा-विधि में मण्डल का अत्यन्त महत्त्व है। प्रायः संहिताओं में इस कार्य के लिये चक्राब्ज-मण्डल का ही महामण्डल नाम से प्रतिपादन किया गया है। जैसा कि कहा गया है—

महामण्डलयागेन वित्ताढ्यानां तु कारयेत्॥ (जयाख्यसंहिता, 16.4)

और भी—

महामण्डलयागेन हवनाद्वाथ केवलात् ।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥ (लक्ष्मीतन्त्र, 41.9)

कहीं-कहीं पर चक्राब्ज-मण्डल के स्थान पर भद्रक मण्डल के प्रयोग का भी विधान है। जैसा कि कहा गया है—

एवं तु मण्डलं कृत्वा चक्राब्जं भद्रकं तु वा। (नारदीयसंहिता, 9.2)

और भी—

शुष्कगोमयसम्मृष्टां भूमिं दर्पणसन्निभाम् ।
कृत्वा तत्र लिखेद् विद्वान् मण्डलं भद्रकं शुभम् ।
चक्राब्जं वा सुविस्तीर्णं सर्वलक्षणसंयुतम् ॥

(नारदीयसंहिता, 7.106)

इन मण्डलों में कौन-सा मण्डल किस कार्य के लिये होना चाहिए, इसके बारे में कहा गया है—

एतेषु मण्डलेष्वेकं दीक्षायां च यथारुचि ॥
प्रतिष्ठायां तथा ब्रह्मन् शान्तिके पौष्टिके तथा ।
प्रायश्चित्ते तु चक्राब्जमभिचारे तथैव च ॥
व्याध्यनिष्टविनाशाय भद्रकं तु विधीयते ।

(नारदीयसंहिता, 8.74-76)

---

1. 'पाञ्चरात्र-दीक्षा का स्वरूप'—अशोक कुमार कालिया, भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ० 446-447

अर्थात् दीक्षा के लिये कोई एक, प्रतिष्ठा, शान्तिक, पौष्टिक और प्रायश्चित्त के लिये चक्राब्ज तथा अभिचार और व्याधि या अनिष्ट के विनाश के लिये भद्रक का विधान किया गया है।

प्रतिष्ठा

प्रतिष्ठा-विधि के अन्तर्गत मण्डल के द्वारदेशों में कलश-स्थापन और वेदिका के मध्य में चक्राब्ज-मण्डल अथवा भद्रक-मण्डल का निर्माण करने के पश्चात् श्रीवैष्णव आचार्य मण्डलस्थ देवताओं का षोडशोपचार पूर्वक पूजन आदि क्रियाएँ करते हैं।

द्वादशी-कृत्य

प्रात:काल स्नान तथा नित्य-कर्म करने के पश्चात् गुरु, मण्डप में आकर स्नान किये हुए शिष्य से स्वप्न के बारे में पूछते हैं। स्वप्न के शुभ होने पर उसे तुरन्त दीक्षा देते हैं और दु:स्वप्न का दर्शन होने पर दीक्षा से पहले शान्तिहोम करते हैं।

शिष्य के नियम

दीक्षित शिष्य को कुछ नियम और आचारों का विशेष रूप से पालन करना अनिवार्य है। जैसे—

किसी को मन्त्र न बताना, अक्षमाला नहीं दिखाना, गुरु का नाम नहीं लेना, मन्त्र, गुरु और देवता की एक समान पूजा करना, विना देवपूजा किये कुछ न खाना, सन्ध्या के समय मन्त्र का जप, स्तोत्रपाठ तथा प्रणाम आदि का आचरण करना, वैष्णवों एवं यतियों को देखकर दण्डवत् प्रणाम करना, हमेशा अन्तरात्मा से नारायण का ध्यान करना आदि।

आचार्य के लक्षण

पाञ्चरात्र-संहिताओं में आदर्श आचार्य के लक्षणों का विस्तृत वर्णन है। जैसा कि कहा गया है—

सर्वलक्षणसंयुक्तो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥
षट्कर्मनिरतः शान्तः पञ्चकालरतः शुचिः ।
पञ्चरात्रार्थविन्मौनी मन्त्राक्षरकृतश्रमः ॥
न स्थूलो न कृशो ह्रस्वो न काणो नैव रोगवान् ।
नान्धो न बधिरो मूढो न खल्वाटो न पङ्गुकः ॥
न हीनाङ्गो नातिरिक्ताङ्गो न श्वित्री न च दाम्भिकः।
न क्रोधनो न दुश्चर्मा न लोभहतचेतनः ॥
अकुलीनं दुराचारं शठं जिह्मं च वर्जयेत् ।

दयादान्तिशमोपेतं दृढभक्तिं क्रियापरम् ॥
सत्यवाक्शीलसम्पन्नं रेखाकर्मसु कौशलम् ।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं करुणापूर्णमानसम् ॥
आर्यलक्षणसम्पन्नमार्जवं चारुहासिनम् ।
एवंगुणगणाकीर्णं गुरुं विद्यात्तु वैष्णवम् ॥

(लक्ष्मीतन्त्र, 21.30-36)

अर्थात् आचार्य को सर्वलक्षण से युक्त वेद पारंगत ब्राह्मण होना चाहिए। उसे षट्कर्मों में निरत, शान्त, पञ्चकालपरायण, शुचि पाञ्चरात्रविशारद, मन्त्राक्षरों की प्रकृति के ज्ञान के लिए कृतश्रम होना चाहिए। उसे स्थूल, कृश, ठिंगना, काना, रोगी, अन्धा, बधिर, मूढ, खल्वाट, पंगु, हीनांग, अतिरिक्तांग, कोढ़ी, दाम्भिक, क्रोधी, दुश्चर्मा, लोभी, अकुलीन, दुराचारी, शठ और कुटिल नहीं होना चाहिए। दया, दम और शम गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। उसे भक्तिमान तथा कर्मनिष्ठ, सत्यभाषण और शील से सम्पन्न, मन्त्र आदि के लिए रेखाकर्म में निपुण, जितेन्द्रिय, सुसन्तुष्ट, कारुणिक, शुभ लक्षणों से और ऋजुता से सम्पन्न तथा चारुहास वाला होना चाहिए। वैष्णव गुरु को इस प्रकार के गुणगण से आकीर्ण समझना चाहिए।

इसी प्रकार अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी कहा गया है—

वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः ।
ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः ॥
अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम् ।
अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः ॥
दयावान् सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये ।
पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षावान् कुबुद्धिषु ॥
तपःसन्तोषशौचाढ्यो योगस्वाध्यायतत्परः ।
पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तन्त्रान्तरविचक्षणः ॥
तन्त्राणामन्तरज्ञश्च मन्त्राणां कृत्यतत्त्ववित् ।
पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः ॥
सामान्यस्यापवादस्य वेत्ता यन्त्रविचक्षणः ।
कुण्डमण्डलभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः ॥
अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
सदन्ववायसम्भूत आचार्यो नाम वैष्णवः ॥ (20.2-7)

इसी प्रकार आचार्य के लक्षणों का वर्णन अनेक संहिताओं में उपलब्ध हो जाता है।

दीक्षा-योग्य स्थान

दीक्षा योग्य स्थान का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

नदीसंगमतीर्थेषु देवतायतनेषु च ।
पर्वताग्रेषु गोष्ठेषु स्थाने वा सुमनोहरे ॥ (परमसंहिता, 7.4)

अर्थात् नदियों के संगम, तीर्थों, मन्दिरों, पर्वत-शिखरों, गोशालाओं या सुमनोहर स्थानों में दीक्षा-विधि सम्पन्न की जाती है।

और भी—

समुद्रगाभिः सारिद्भिः संगमं यन्मनोरमम् ।
महोदधितटं रम्यं यत्र वा रमते मनः ॥ (नारदीयसंहिता, 7.11)

इसी प्रकार अन्य संहिताओं में भी दीक्षा-योग्य स्थानों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

[1]दीक्षायोग्य-काल

वैदिक अनुष्ठानों में शूद्र तथा स्त्री को 'दीक्षा' का अधिकार नहीं है, परन्तु पाञ्चरात्र-परम्परा में शूद्र तथा स्त्री को भी 'दीक्षा' का अधिकार है। जैसा कि कहा गया है—

वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।
शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ॥
स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः ।[2]

अर्थात् वसन्त में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय, शरद में वैश्य, हेमन्त में शूद्र तथा वर्षा ऋतु में स्त्री को 'दीक्षा' दी जाती है।

संक्रान्ति की दृष्टि से दीक्षायोग्य-काल के बारे में कहा गया है—

दीक्षां वक्ष्ये तु संक्षेपात् तच्छृणु द्विजपुङ्गव ।
आदित्ये मीनमेषेषु वृषनक्रेषु संस्थिते ॥
पूर्वपक्षे शुभे ऋक्षे एकादश्यां तथा निशि । (विश्वामित्रसंहिता, 9.2-3)

---

1. 'पाञ्चरात्र-दीक्षा का स्वरूप'—डॉ० अशोक कुमार कालिया, भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ० 434
2. सात्वतसंहिता, 19.39-46 (अलशिङ्गभट्टविरचित भाष्य में उद्धृत), सं० सं० वि० वि०, वाराणसी, पृ० 385

अर्थात् सूर्य के मीन, मेष, वृष और मकर राशियों में स्थित होने पर पूर्व (शुक्ल) पक्ष तथा शुभ नक्षत्र में एकादशी तिथि के होने पर रात का समय ग्राह्य है।

सामान्यतया सभी अग्नि-कार्य के लिये पाञ्चरात्र-संहिताओं में भिन्न-भिन्न तिथियाँ तथा उनके फल बताये गये हैं। जैसा कि कहा गया है—

शुभे ग्रहे सुनक्षत्रे शुक्लपक्षे तिथिष्वपि ॥
द्वादश्यां धर्मकामार्थानग्निस्थः कुरुते विभुः ।
सौभाग्यं तु त्रयोदश्यामेकादश्यां ध्रुवं जयः ॥
पञ्चम्यां द्रव्यसिद्धिं च नवम्यां कीर्तिदः प्रभुः ।
तिथयः शुक्लपक्षे तु प्रोक्ताः सौभाग्यकर्मणि ॥
यथाकामं तु मोक्षार्थी पक्षयोरुभयोरपि ।

(जयाख्यसंहिता, 15.215-218)

अर्थात् शुभ ग्रह, शुभ नक्षत्र, शुक्लपक्ष तिथियों में द्वादशी, त्रयोदशी, एकादशी, पञ्चमी और नवमी का विधान किया गया है। फलप्राप्ति की दृष्टि से तत्तद् अनुष्ठानों के लिये तिथियों का विधान किया गया है। जैसे—सौभाग्य के लिये त्रयोदशी, जय के लिये एकादशी, द्रव्यसिद्धि के लिये पञ्चमी तथा कीर्ति के लिये नवमी। शुक्लपक्ष में ये तिथियाँ सौभाग्यकारिणी होती हैं। मोक्षार्थी की इच्छानुसार दोनों पक्षों की तिथियाँ भी हो सकती हैं। सामान्यतया ये तिथियाँ शुभ हैं, किन्तु दीक्षा-कार्य के लिये विशेष रूप से 'द्वादशी' तिथि को ही उपयुक्त माना गया है। जैसा कि कहा गया है—

यद्यप्युक्ता मया विप्र तिथयः पूजने पुरा ।
तथाऽपि द्वादशी श्रेष्ठा दीक्षायां पूजने हरेः ॥ (जयाख्यसंहिता, 16.89)

शिष्य की परीक्षा[1]

पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षार्थी की परीक्षा का भी विधान है। यह परीक्षा चिरकाल तक चलने वाली होती है। इस परीक्षा से शिष्य के अन्य गुणों की परीक्षा के साथ ही साथ उसके दृढ़ निश्चय का भी ज्ञान हो जाता है। इस चिरकाल को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

---

1. 'पाञ्चरात्र-दीक्षा का स्वरूप'—डॉ० अशोक कुमार कालिया, भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ० 438

भवन्तं शरणं प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥
इत्येवं प्रतिपद्येत शिष्य आचार्यसत्तमम् ।
इत्येवं सम्प्रपन्नाय शिष्यायाच्छलवादिने ॥
प्रत्यक्षाभिः परोक्षाभिरुपाधिभिरनेकधा ।
शोधितायैकरूपाय रहस्याम्नायगोपिने ॥
अशठायानसूयाय लोभमोहाद्यसेविने ।
संवत्सरं परीक्ष्येवं परितः परितो धिया ॥
निष्कम्पाय वदेद्विद्यां यावती यादृशी च सा ।

(अहिर्बुध्न्यसंहिता, 20.10-14)

संवत्सर-परीक्षा अर्थात् एक वर्ष तक चलने वाली इस परीक्षा की पुष्टि अन्य संहिताओं से भी हो जाती है। जैसे—

उपासितगुरोर्वर्षं विष्णोर्दास्यमभीप्सतः ।
विहिताः पञ्च संस्कारा युक्तस्यैकान्त्यहेतवः ॥

(भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट, 2.1)

अर्थात् गुरु की एक वर्ष तक सेवा करने वाले, विष्णु-दास्य के इच्छुक शिष्य के लिये पञ्चसंस्कारों का विधान किया गया है।

इस प्रकार एक वर्ष तक परीक्षा करने के पश्चात् आचार्य सुयोग्य शिष्य को 'दीक्षा' देते हैं।

स्वप्न-विचार

गुरु, शिष्य को शुभ स्वप्न होने पर तुरन्त तथा अशुभ स्वप्न होने पर शान्ति-होम आदि करके 'दीक्षा' देते हैं।

इसके पश्चात् गुरु मण्डल के चारों द्वारों में से किसी भी एक द्वार पर खड़े होकर शिष्य की अञ्जलि में रत्न या फूल भरते हैं और शिष्य उनकी आज्ञा से उसे मण्डल में चढ़ाता है। गुरु मण्डल के जिस भाग में शिष्य की रत्नाञ्जलि या पुष्पाञ्जलि गिरती है, उसके अधिपति का नाम, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शिष्य के नाम के अन्त में क्रमशः देव, पाल व दास शब्द लगाकर देते हैं। गुरु स्वयं ही नाम के अन्त में 'भागवत' या 'भट्टारक' पद का निर्देश करते हैं। नामकरण के पश्चात् गुरु, शिष्य को चक्राब्ज-मण्डल का दर्शन कराते हुए उसके साथ भगवान् का ध्यान करते हैं। तदनन्तर गुरु, शिष्य के दाहिने कान में सप्रणव,

ऋषि, छन्द और देवता सहित षडक्षर (ॐ विष्णवे नमः), अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय), द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) आदि मन्त्रों का उपदेश करते हैं। स्त्री, शूद्र तथा अनुलोमज शिष्यों को नमः, स्वाहा, हुँ, फट् आदि से रहित, प्रणव से वर्जित चतुर्थ्यन्त विष्णु नाम का उपदेश दिया जाता है।

आचार्य, शिष्य के कुम्भ-मण्डल में स्थित देव की आराधना करने के पश्चात् अपने हाथ में चक्राब्ज-मण्डल का ध्यान करके उसे विष्णुहस्त के रूप में शिष्य के सिर पर रखकर समस्त आचारों और नियमों का उपदेश करते हैं।

विधि पूर्वक दीक्षित व्यक्ति को एकान्ती, पाञ्चरात्रिक, सूरि, भागवत, सात्वत तथा पाञ्चकालिक नामों से सम्बोधित किया जाता है। जैसा कि कहा गया है—

सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित् ।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक इत्यपि ॥ (पद्मसंहिता, 4.2.88)

पाञ्चरात्र-दीक्षा, लक्ष्मीतन्त्र, भार्गवतन्त्र, जयाख्यसंहिता, नारदीयसंहिता आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से वर्णित है।

भागवत-दीक्षा

यह दीक्षा पाञ्चरात्र पद्धति के अन्तर्गत न्यासचक्र (जल से चक्र का आकार बनाना) विधि से दी जाती है।

•

घण्टापादविरचितः

श्रीचक्रसंवरपञ्चक्रमः

ŚRĪCAKRASAMVARAPAÑCAKRAMAḤ
of
GHAṆṬĀPĀDA

དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རིམ་པ་ལྔ་པ།

མཛད་པ་པོ། རྡོ་རྗེ་དྲིལ་བུ་པ།

आदर्श प्रति

सं॰ साधनविधान - 3/693

पत्र सं॰ - 64-68

राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल।

भो॰ དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རིམ་པ་ལྔ་པ། (तो॰ 1433)

श्रीचक्रसंवरपञ्चक्रमः

अधिष्ठानक्रमः

ॐ नमः श्रीचक्रसंवराय[1] ।

अधिष्ठानक्रमं वक्ष्ये गोपितञ्चक्रसंवरे ।
यदुदेति क्षणेनैव गुर्वधिष्ठानमात्रतः ॥ 1 ॥

सर्वडाकिनीजालस्य हृदयं संवरोत्तरम् ।
नाक्षसूत्रं न जापोऽस्मिन्न ध्यानं देवतार्च्चनम् ॥ 2 ॥

न तिथिर्नियमश्चैव न होमो न च संस्थितिः ।
न जापो न च पाठश्च [2]विकल्पभयवर्जितः ॥ 3 ॥

भक्तिमुत्पादयेच्छिष्यः सर्वज्ञज्ञानगोचरः ।
यस्योत्पादमात्रेण (तु) परमा[3]नन्दसंगमम् ॥ 4 ॥

[4]षडभिज्ञाश्च लभन्ते दशभूमीस्तथैव च ।
आकाशगमनं (च) ऋद्धिमन्तर्द्धानमेव च ॥ 5 ॥

जातिस्मरत्वं परचित्तं सर्वं जानाति त्रिधातुकम् ।
अतीतानागतं चैव प्रत्युत्पन्नं च जा(ज्ञा)यते ॥ 6 ॥

अलातभ्रमणाकारं विषयं चित्तं प्रधावति ।
तत्रस्थं विनिवृत्यैव[।]लक्षं लक्षणतां नयेत् ॥ 7 ॥

---

1. नमः पद्मनर्त्तेश्वराय- भो.
2. अविकल्प- भो.
3. शुद्धि- भो.
4. पञ्चाभि० - भो.

नादबिन्दुसमाक्रान्तं हृदि चित्तं निधापयेत् ।
ततोऽसौ मोहतिमिरं विध्वंसी भगवान् प्रभुः ॥ 8 ॥

ज्वालामालाकुला रौद्रा[ख्या] हेरुकमहोदयः ।
श्मशानसहजक्रीडन् सर्वमारप्रभञ्जकः ॥ 9 ॥

भुञ्जते तत्क्षणादेव सर्वसौख्यं महोत्सवम् ।
एकक्षणाभिसंबोधिर्निर्बीजोऽयमुदाहृतः ।
यदधिष्ठानमात्रेण क्षणाच्छिष्येऽपि संक्रमेत् ॥ 10 ॥

इति चक्रसंवरोत्तरे गोपितं यथालब्धमनुष्ठान (धिष्ठान) निर्देशमिद-मोडियानीयाचार्यश्रीवज्रघण्टापादैः सत्त्वाय लिखितम्।

समाप्तोऽधिष्ठानक्रमः।

स्वाधिष्ठानक्रमः

पुनरपि [1]स्वाधिष्ठानक्रमो लिख्यते।

हृदये वर्तते नित्यं बिन्दुरेको निरक्षरः ।
तञ्च भावयतां पुंसां ज्ञानमुत्पद्यते ध्रुवम् ॥

अस्यार्थोऽभिधीयते। चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वक्प्रदेशावस्थितानां ज्ञानानां चित्त-आलयविज्ञानस्वभावेतानि पञ्चविज्ञानानि समारोप्य निश्चलं कृत्वा पुनर्हृदये निक्षिप्य तिष्ठन् सन् बिन्दुरूपं दृश्यते। तद्दर्शनात् ज्ञानमुत्पद्यते, क्रमेण बुद्धत्वमुप-जायते।

इदानीं निर्बीजस्वाधिष्ठानक्रमः कथ्यते। येन सूर्यसोमात्मकेन मार्गेण शून्यतास्वभावेनाकाशरूपेण निरन्तरं वायोः प्रवेशनिर्गमो भवति। तस्मिन्मार्गे

1. द्वितीय अधिष्ठानक्रमो- भो.

वायुना सह योजितमेकीकृतं चित्तं धारयेत्। स वायुश्चित्तस्य वाहनभूतश्चित्तं बुद्धे[1]रगोचरं(त्तं बुद्धेराधारं)[स्व]गृहं नयति। बुद्धिः प्रज्ञा उपायश्चित्तमेकीभूतमद्वयरूपतां गतं सर्वबुद्धजननस्वभावं वज्रधरत्वं निष्पादयतीति। अतीतानागतप्रत्युत्पन्नं [2]सर्वं जानाति। संसारस्याद्यन्तं निर्वाणस्य परमं रूपं दिव्येन चक्षुषा पश्यति। अनन्तापर्यन्तलोकधातुषु सत्त्वरुतं शृणोति। गन्धञ्च जिघ्रति। रसमश्नाति। स्पर्शस्योपभोगं करोति। [3]महामुद्रां प्रज्ञापारमिता-स्वभावां रमते[4]। विश्ववज्रधारिणी(धरणी)गतं वज्रं वज्रकोटिपरमाद्यशिरस्थं इन्दुमिव निर्मलमूर्त्तिं [[5]बिन्दुं] भावयेत्। स्वयमसौ [6]कुलिशो भवतीति। **सबीजविश्ववज्रक्रमः।**

तथा चक्षुषो न्यस्तमारोपितं स्थिरतां गतं चित्तं त्रैलोक्यं पश्यति। तथैव कर्णे समारोपितं चित्तं स्थिरतरं त्रैलोक्यगतान् शब्दान् शृणोति। षड्गतिकसत्त्वानां रुतं जानाति। एवं नासिकायामारोपितं चित्तं स्थिरीकृतं त्रैलोक्यगतं गन्धं जिघ्रति। एवं जिह्वायामारोपितं चित्तं स्थिरतां गतं त्रैलोक्यगतं रसमास्वादयति। तथा त्वचि स्थिरीकृतं चित्तं त्रैलोक्यगतं [7]स्पर्शं भुंक्ते। तथा हृदये स्थिरीकृतं चित्तं षडभिज्ञं [8]भवतीति धर्मचक्रम्। [9]मूर्ध्नि महासुखचक्रे समारोपितं चित्तं देवताव्यूहान् पश्यति। [10]एवं कण्ठे समारोपितं चित्तं सर्वशास्त्राणि वेत्तीति संभोगचक्रम्। निर्माणचक्रे समारोपितं चित्तं स्थिरीकृतं भुंक्ते कन्यां सुराग्रजाम्। **इति नानाप्रकारविश्ववज्रक्रमः।**

---

1. ०गोचरम्- भो.
2. अर्थं- भो.
3. महायानं- भो.
4. स्वाधिष्ठानम्- भो. इत्यधिकम्।
5. नास्ति- संस्कृतमातृकायां, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
6. वज्राभिषेको- भो.
7. 'चित्तं' मातृकायां, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
8. लभत इति- भो.
9. 'मूर्ध्नि' नास्ति संस्कृतमातृकायां गृहीतस्तु भोटानुसारी।
10. 'एवं' नास्ति संस्कृतमातृकायां गृहीतस्तु भोटानुसारी।

इदानीं निर्बीजविश्ववज्रक्रमोऽभिधीयते। [भ्रुवोपरि]न्यस्तचित्तं सूर्यबिम्बं पश्यति। तदुपरि न्यस्तं चित्तं चन्द्रबिम्बं पश्यति। तदुपरि न्यस्तं चित्तं ताराचक्रं पश्यतीति। [एवं] निरालम्बनं चित्तं स्थिरतां गतं बुद्धत्वं संपादयतीति।

इदानीं **मणिपूरक्रमो**ऽभिधीयते। समयमुद्रां योगविधानेन वज्रस्याग्रे मणौ बोधिचित्ते गते यादृशं सुखमुपजायते। तत्सुखं [1]स्वयमुपलक्ष्य स्थिरीकृत्य तन्मयतामुपगतं वज्रधरत्वमिहैव जन्मनि संजायते नियतमेवाचिरेणेति। द्वितीय-क्रमोऽपि कराख्या[2]धर्ममुद्राप्रकारेण उपलक्ष्य पूर्ववत् स्थिरतां गतं बोधिचित्त-मावृत(संवृत)रूपं परार्थ(परमार्थ)रूपं निर्विकल्पकत्वं जातं वज्रधरत्वं संपादय-तीति। तृतीयक्रमोऽपि गतानुभूतस्मरणसंभूतं धर्ममुद्रा मानसीमुद्रा प्रभवं सम्यक् स्थिरतां गतं वज्रधरत्वं जनयतीति। चतुर्थक्रमोऽपि मणिपूराख्य उच्यते। चित्तं सर्वगतमवलम्बनरहितं सकलस्थिरचलस्वभावं त्रैधातुकव्यापिनी शून्यता महामुद्रा तत्समालिङ्गितचित्त(अचिन्त्य)स्वभावम्, गुरुप्रसादादुत्पन्नं स्थिरीकृतं महावज्र-धरत्वं संपादयति सकलमहामुद्रासमालिङ्गितं महासुखं जनयतीति **मणिपूरक्रमः**।

इदानीं **जालन्धरक्रमो**ऽभिधीयते।

नाभिमेढ्रान्तरे चक्रं त्रिकोणश्वेतलोहितम् ।
बिन्दुभिः पञ्चवर्णैश्च पञ्चबुद्धैश्च लक्षितम् ॥

[3]प्राणधरसमायुक्तं ध्यात्व[ा] ज्वलति तत्क्षणात् ।
लोकधातुषु संपूज्य साक्षात् वज्रधरो भवेत् ॥

निर्गच्छत्यन्यरन्ध्रेण खेनाड्येन विशत्[4]प्रभुः(ल्लघुः) ।
आलोको [5]वीक्ष्यते साक्षाद्भावना च यदा स्थिरा ॥

---

1. समुपलक्ष्य- भो.
2. 'धर्म' नास्ति भो.
3. प्राणनिरोधसंयुक्तं- भो.
4. ०क्षिप्र- भो.
5. लभ्यते- भो.

ज्वलनं च स्थिरीभूतं [1]जिह्वां प्राप्य व्यवस्थितम्।
यावत्समीहते तावज्जिह्वावृद्धिः प्रजायते ॥

ब[1]हुमूलगतो [2]वह्निः सर्वगो देहवर्द्धनः ।
त्रैधातुकेषु सर्वेषु कुरुते वीक्षणादिकम् ॥

इति जालन्धरक्रमः।

इदानीं [3]पञ्चमः क्रम उच्यते—

रूपादिभिः समाकृष्टं चञ्चलं यत्स्वभावतः ।
हृदि चित्तं स्थिरीकृत्य धिया सह वशं नयेत् ॥

ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्सर्वालम्बनवर्जितम् ।
चित्त[4]मचित्तरूपत्वान्न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

शून्यतायां क्षिपेत् चित्तं चित्ते शून्यं विनिक्षिपेत् ।
शून्याशून्यादिसंकल्पप्रहीणं खसमं भवेत् ॥

अनाधेयमनाधारमनौपम्यमनालयम् ।
पञ्चमं तत्त्वमुत्पन्नक्रमं [5]सहजमद्वयम् ॥

भावयन्तीह [6]तत्सर्वं वृक्षगुल्मलतादयः ।
आत्मनस्तत्त्वरूपेण त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

---

1. जिह्वामूलाद्व्य०- भो.
2. वायुः- भो.
3. पञ्च, गृहीतं तु भोटानुसारि।
4. अचिन्त्य- भो.
5. सहजमच्युतम्- भो.
6. 'न' इत्यधिकं संस्कृतमातृकायाम्।

भावयन्ति स्वभावेन न च तद्बुद्धयन्ति च ।
यदि सर्वं प्रबुध्यन्ते जगत्[1] क्रीडाविनश्यति ॥

बुध्यन्तीह संबुद्धा योगनिद्रामुपागताः ।
उच्यन्ते तेन संबुद्धाः स्वयमेव स्वयम्भुवः ॥

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं त्र्यध्वसंबुद्धरूपकम् ।
भावितेनाचिरेणैव वज्रसत्त्वो भवेदिति ॥

इत्यचिन्त्योपमोडियानक्रमः पञ्चमः समाप्तः ।
कृतिरियं घण्टापादानामिति[2] ।

•

---

1. चर्यां- भो.
2. इतः परं मातृकायां- संवत् 570 श्रावणमासे रविचन्द्रेण लिखितम् । अनेन यदत्र पुण्येन मातापितृपूर्वंगमेभ्यः सकलसत्त्वराशेरनुत्तरसम्यक्संबोधिफलप्राप्तय इति ।

༄༅། །རྒྱ་གར་སྐད་དུ། ཤྲཱི་ཙཀྲ་སཾབར་པཉྩ་ཀྲམ།
བོད་སྐད་དུ། དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རིམ་པ་ལྔ་པ།

པདྨ་གར་གྱི་དབང་ཕྱུག་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།།[1]

བླ་མའི་བྱིན་བརླབས་[2]ཙམ་གྱིས་ནི།།

སྐད་ཅིག་ཉིད་ལ་འབྱུང་གང་ཉིད།།

འཁོར་ལོ་སྡོམ་པར་སྤྲས་པ་ཡི།།

བྱིན་བརླབ་རིམ་པ་[3]བཤད་པར་བྱ།། ༡ ||

མཁའ་འགྲོ་མ་ཡི་ཚོགས་ཀུན་གྱི།།

སྙིང་པོ་སྡོམ་པ་བླ་མ་ཉིད།།

བགྲང་ཕྲེང་བཟླས་པ་འདིར་མེད་དེ།།

བསམ་གཏན་ལྷ་མཆོད་ཡོད་མ་ཡིན།། ༢ ||

ཚེས་གྲངས་མེད་ཅིང་ངེས་པ་མེད།།

སྦྱིན་སྲེག་ཡང་དག་གནས་པ་མེད།།

ཀློག་དང་འདོན་པ་[4]ཡོད་མ་ཡིན།།

རྣམ་པར་རྟོག་མེད་འཇིགས་བྲལ་བའི།། ༣ ||

---

1. དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ། རྒྱ་དཔེ།
2. བྱིན་རླབས་ གསེར་བྲིས།
3. བྱིན་རླབས་རིམ་པར་ པེ། སྣ། གསེར།
4. འདོད་པ་ གསེར་བྲིས།

སློབ་མ་གུས་པས་[1] ཀུན་མཁྱེན་གྱི།།
སྤྱོད་ཡུལ་ཡེ་ཤེས་གང་ཞིག་ནི།།
སྐྱེས་པ་ཙམ་གྱིས་[2] མཆོག་ཏུ་ནི།།
དག་པ་[3] དང་ནི་ལྡན་གྱུར་ཞིང་།། ༣ །།

མངོན་པར་ཤེས་པ་ལྔ་[4] དང་ལྡན།།
དེ་ཉིད་ས་བཅུ་[5] ཉིད་དང་ནི།།
མཁའ་ལ་འགྲོ་དང་རྫུ་འཕྲུལ་དང་།།
མི་སྣང་ཁྱད་པར་དུ་ཐོབ་ཅིང་།། ༤ །།

སྐྱེ་བ་དྲན་དང་ཁམས་གསུམ་པའི།།
གནས་ཀྱི་སེམས་[6] དང་རིག་པ་ཡིས།།
འདས་དང་མ་འོངས་པ་དང་ནི།།
ད་ལྟར་བྱུང་བ་ཤེས་པའོ།། ༥ །།

---

1. གུས་པ་ པེ། སྣ། གསེར།
2. ཀྱི་ གསེར་བྲིས།
3. དགའ་བ་ རྒྱ་དཔེ།
4. མངོན་པར་ཤེས་པ་དྲུག་ རྒྱ་དཔེ།
5. ས་རྒྱུ་ གསེར་བྲིས།
6. གཞན་གྱི་སེམས་ རྒྱ་དཔེ།

མགལ་མེ་[1]བསྐྱོད་པའི་རྣམ་པ་ཅན།།
སེམས་ནི་ཡུལ་ལ་རབ་ཏུ་རྒྱུག །
དེ་ནི་དེ་ལ་རྣམ་བཟློག་ནས།།
མཚོན་དུ་མེད་པ་[2]མཚོན་པར་བྱེད།། ༧ ||

སྒྲ་དང་ཐིག་ལེར་[3]ལྡན་པའི་སེམས།།
སྙིང་གར་བཞག་བྱ་དེ་ནས་འདིའི།།
སྨོངས་པའི་རབ་རིབ་འཇོམས་མཛད་ནི།།
མངའ་བདག་བཅོམ་ལྡན་འབྱུང་འགྱུར་ཏེ།། ༨ ||

དྲག་པོ་འབར་བའི་ཕྲེང་བས་འཁྲིགས།།
ཧེ་རུ་ཀར་གྲགས་ཆེར་འབྱུང་ཉིད།།
ལྷན་ཅིག་སྐྱེས་པའི་དུར་ཁྲོད་ན།།
རོལ་ཅིང་བདུད་རྣམས་ཐམས་ཅད་འཇོམས།། ༩ ||

བདེ་བ་རྣམས་ཀྱི་རྣམ་པ་ནི།།
སྐད་ཅིག་དེ་ལ་སྤྲོལ་[4]མཛད་པའོ།།

---

1. འགལ་མེ་ སྣ།
2. མེད་པར་ གསེར་ཕྲིས།
3. ཐིག་ལེ་ པེ། སྣ། གསེར།
4. གསོལ་ པེ། སྣ། གསེར།

བྱིན་བརླབས་པ་ཡི་སྐད་ཅིག་ལ།།
སློབ་མ་ལ་ཡང་གང་འགོ་བ།།
ས་བོན་མེད་འདི་སྐད་ཅིག་མ།།
གཅིག་ལ་མངོན་བྱང་ཆུབ་པར་མཛོད།། ༡༠ །།

ཅེས་བྱ་བ་ནི་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པར་བླ་མ་རྣལ་འབྱོར་མའི་སྐབས་པ་ལས་ཇི་ལྟར་རྙེད་པའི་བྱིན་གྱིས་རློབ་པ་[1]ངེས་པར་བསྟན་པའོ། །བྱིན་བརླབ་[2]ཀྱི་རིམ་པའོ།། །།

སླར་ཡང་བྱིན་གྱིས་བརླབ་པའི་རིམ་པ་གཉིས་པ་[3]བརྗོད་དོ།།

རྟག་ཏུ་སྙིང་ལ་གནས་པ་ཡི།།
ཐིག་ལེ་གཅིག་ལ་འགྱུར་མེད་དེ།།
དེ་སྒོམ་བྱེད་པའི་སྐྱེ་བོ་ལ།།
ངེས་པར་ཡེ་ཤེས་སྐྱེ་བར་འགྱུར།།

འདིའི་དོན་བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ། མིག་དང་རྣ་བ་དང་[4]པགས་པའི་ཕྱོགས་ལ་གནས་པའི་ཤེས་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཀུན་གཞི་རྣམ་པར་ཤེས་པའི་རང་བཞིན་གྱི་སེམས་ལ་རྣམ་པར་ཤེས་པ་ལྔ་པོ་དེ་དག་ཡང་དག་པར་གཞག་ཅིང་མི་གཡོ་བར་བྱས་ཏེ། ཡིད་སྙིང་གར་གཞག་ནས་གནས་པའི་ཐིག་

1. བྱིན་རླབས་པ་ པེ། སྣ།
2. བྱིན་རླབས་ གསེར་བྲིས།
3. གཉིས་པ་ རྒྱ་དཔེར་མ་གསལ།
4. སྣ་དང་ལྕེ་དང་ ཞེས་པ་བོད་དཔེར་མ་འཁོད་ཀྱང་རྒྱ་དཔེར་ལྷག

ལའི་གཟུགས་སུ་འགྱུར་རོ། །དེ་མཐོང་བ་ལས་ཡེ་ཤེས་ཏེ། སངས་རྒྱས་ཀྱི་[1]ཡེ་ཤེས་སྐྱེ་བར་འགྱུར་ཏེ། རིམ་གྱིས་སངས་རྒྱས་ཉིད་དུ་འགྲུབ་པར་འགྱུར་རོ།།

ད་ནི་ས་བོན་མེད་པའི་རང་བྱིན་གྱིས་བརླབ་པའི་རིམ་པ་བརྗོད་པར་བྱའོ། །ཉི་མ་ཟླ་བའི་བདག་ཉིད་ཅན་གྱི་ལམ། །སྟོང་པ་ཉིད་ཀྱི་རང་བཞིན་ནམ་མཁའ་སྟོང་པའི་ངོ་བོ་གང་ནས་ཀྱང་བར་ཆད་མེད་པར་རླུང་འཇུག་པ་དང་། འབྱུང་བར་འགྱུར་བའི་ལམ་དེར་རླུང་དང་ལྷན་ཅིག་སྦྱར་ཏེ། གཅིག་ཏུ་བྱས་པའི་སེམས་གཟུང་བར་བྱའོ། །སེམས་ཀྱི་བཞོན་པར་གྱུར་པའི་རླུང་དེས་ཀྱང་བློའི་གཞི་རང་ཁྲིམ་དུ་བགྲོར་རོ[2]། །ཤེས་རབ་བློ་ཐབས་སེམས་དང་གཅིག་ཏུ་འགྱུར་ཏེ། གཉིས་སུ་མེད་པའི་རང་བཞིན་ཉིད་དུ་སོན་པ་ནི་སངས་རྒྱས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྙིང་བྱེད་ཀྱི་རང་བཞིན་རྡོ་རྗེ་འཆང་ཉིད་སྒྲུབ་པར་བྱེད་པ་[3]ཡིན་ནོ། །འདས་པ་དང་མ་འོངས་པ་དང་[4]ད་ལྟར་བྱུང་བའི་དོན་ཤེས་[5]ཤིང་། འཁོར་བའི་ཐོག་མ་དང་ཐ་མ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་རང་བཞིན་གྱི་ལྷའི་མིག་གིས་མཐོང་བ་དང་། འཇིག་རྟེན་གྱི་ཁམས་མཐའ་ཡས་མུ་མེད་པ་རྣམས་སུ་སེམས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་སྒྲ་རྣམས་ཐོས་ཤིང་། དྲི་རྣམས་སྣོམ། རོ་རྣམས་མྱོང་། རེག་བྱ་རྣམས་ལ་ལོངས་སྤྱོད་པར་བྱེད་ལ། ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པའི་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་རོལ་པར་ཡང་བྱེད་དོ། །རང་བྱིན་གྱིས་བརླབ་པའོ།།[6]

---

1. ཡེ་ཤེས་ཏེ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ རྒྱ་དཔེར་མ་གསལ།
2. དེས་ཀྱང་སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྤྱོད་ཡུལ་དུ་འཁྲིར་རོ། རྒྱ་དཔེ།
3. སྒྲུབ་བྱེད་པ་ པེ། སྣ། གསེར།
4. མ་འོངས་དང་ གསེར་ཕྲིས།
5. བྱུང་བའི་ཐམས་ཅད་ཤེས་ རྒྱ་དཔེ།
6. ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པའི་རང་བཞིན་ཕྱག་རྒྱ་ཆེན་པོ་ལ་རོལ་བར་བྱེད་དོ། རྒྱ་དཔེ།

སྣ་ཚོགས་རྡོ་རྗེའི་གཞིར་གནས་པའི་རྡོ་རྗེ་དང་།

རྡོ་རྗེའི་རྩེ་མོ་[1]དང་པོ་མཆོག་གི་སྤྱིར་གནས་པ།།
ཐྀ་བ་ལྟ་བུར་དྲི་མེད་ལུས་ལྡན་ཐིག་ལེ་ནི།།
སྒོམ་[2]པར་བྱེད་དེ་བདག་ཉིད་རྡོ་རྗེ་དབང་བསྒྱུར་ཉིད།།
ས་བོན་དང་བཅས་སྣ་ཚོགས་རྡོ་རྗེའི་རིམ་པའོ།།

དེ་ནས་མིག་ལ་བཀོད་ཅིང་སེམས་བརྟན་པར་གྱུར་པས་ནི་འཇིག་རྟེན་གསུམ་མཐོང་བའོ། ། དེ་བཞིན་དུ་རྣ་བ་དག་ལ་གཞག་པའི་སེམས་བརྟན་པར་གྱུར་པས་ནི་འཇིག་རྟེན་གསུམ་ན་གནས་པའི་སྒྲ་ཐོས་ཤིང་འགྲོ་བ་དྲུག་ན་གནས་པའི་སྐད་ཀྱང་ཤེས་སོ། །དེ་བཞིན་དུ་སྣ་ལ་གཞག་པའི་སེམས་བརྟན་པར་གྱུར་པས་ནི་[3]འཇིག་རྟེན་གསུམ་ན་གནས་པའི་དྲི་སྣོམ་མོ། །དེ་བཞིན་དུ་ལྕེ་ལ་གཞག་[4]པའི་སེམས་བརྟན་པར་གྱུར་པས་ནི[5]། འཇིག་རྟེན་གསུམ་ན་གནས་པའི་རོ་མྱོང་བར་བྱེད་དོ། །དེ་བཞིན་དུ་པགས་པ་ལ་སེམས་བརྟན་པར་བྱས་པས་ནི། འཇིག་རྟེན་གསུམ་ན་གནས་པའི་རེག་བྱ་ལ་ལོངས་སྤྱོད་དོ། །དེ་བཞིན་དུ་སྙིང་ག་ཆོས་ཀྱི་འཁོར་ལོ་[6]ལ་སེམས་བརྟན་པར་བྱས་པས་

---

1. རྡོ་རྗེ་རྩེ་མོ་ པེ། སྣ། གསེར།
2. བསྒོམ་ པེ། སྣ། གསེར།
3. ནི་ གསེར་ཕྲེས་སུ་མ་གསལ།
4. བཞག་ གསེར་ཕྲེས།
5. ནི་ པེར་མ་གསལ།
6. ཆོས་ཀྱི་འཁོར་ལོ་ རྒྱ་དཔེར་མ་གསལ།

ཉེ་མངོན་པར་ཞེས་པ་དྲུག་འཐོབ་པར་འགྱུར་རོ། །སྤྱི་བོ་བདེ་བ་ཆེན་པོ་ལ་[1]སེམས་གཞག་པས་ནི། ལྷ་ཡི་ཚོགས་མཐོང་བར་འགྱུར་རོ། །དེ་བཞིན་དུ་མགྲིན་པ་ལོངས་སྤྱོད་ཀྱི་འཁོར་ལོ་ལ་སེམས་གཞག་[2]པས་ནི། བསྟན་བཅོས་ཐམས་ཅད་ཤེས་སོ། །སྤྲུལ་པའི་[3]འཁོར་ལོར་སེམས་གཞག་པ་ལ་བརྟན་པར་གྱུར་པས་ནི་ལྷའི་མཆོག་ལས་སྐྱེས་པའི་བུ་མོ་ལ་ལོངས་སྤྱོད་པར་འགྱུར་རོ། །རྣམ་པ་སྣ་ཚོགས་པའི་སྣ་ཚོགས་རྡོ་རྗེའི་རིམ་པའོ།།

ད་ནི་ས་བོན་མེད་པའི་སྣ་ཚོགས་རྡོ་རྗེའི་རིམ་པ་བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ། མཛོད་སྤུར་དགོད་པའི་[4]སེམས་ནི་ཉི་མའི་གཟུགས་སུ་མཐོང་བར་འགྱུར་རོ། །དེའི་སྟེང་དུ་ཟླ་བའི་གཟུགས་བཀོད་པ་ལ། དེའི་སྟེང་དུ་སྐར་མའི་གཟུགས་བཀོད་པ་སྟེ། དེ་ལྟར་སེམས་དམིགས་པ་མེད་པ་ལ་བརྟན་པར་གྱུར་པས་ནི་སངས་རྒྱས་ཉིད་འགྲུབ་པར་བྱེད་དོ།།

ད་ནི་ནོར་བུ་འགེངས་པའི་རིམ་པ་[5]བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ། དམ་ཚིག་གི་ཕྱག་རྒྱ་དང་སྦྱོར་བའི་ཆོ་གས་[6]རྡོ་རྗེ་ནོར་བུའི་རྩེ་མོར་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་སོན་པ་བདེ་བ་ཅི་འདྲ་བ་ཞིག་སྐྱེ་བ་དེ་ཡང་དག་པར་ཉེ་བར་བརྟགས་ཤིང་། བརྟན་པར་བྱས་[7]ནས་དེའི་བདག་ཉིད་དུ་གྱུར་པ་ལ་ནི་ཚེ་འདི་ཉིད་ལ་རྡོ་རྗེ་འཆང་ཉིད་སྤྱད་པ་མེད་པར་ངེས་པ་ཉིད་དུ་སྐྱེ་བར་འགྱུར་རོ།།

---

1. བདེ་བ་ཆེན་པོའི་འཁོར་ལོ་ རྒྱ་དཔེ།
2. འཁོར་ལོར་སེམས་བཞག་ གསེར་བྲིས།
3. སྤྲུལ་པའི་ པེ། སྣ། གསེར།
4. འགོད་པའི་ པེ། སྣ། གསེར།
5. རིམ་པས་ པེ། སྣ། གསེར།
6. སྦྱོར་བའི་ཚོགས་ སྡེ། པེ། སྣ།
7. བརྟན་བྱས་ པེ། སྣ།

རིམ་པ་གཉིས་པ་ཡང་ལག་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཕྱག་རྒྱའི་[1]སྒོ་ནས་སྦྱ་མ་ཉེ་བར་བརྟགས་ཏེ་བརྟན་པར་གྱུར་པ་ཀུན་རྫོབ་པའི་རང་བཞིན་གྱི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་དོན་དམ་པའི་[2]རང་བཞིན་[3]རྣམ་པར་མི་རྟོག་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་དུ་གྱུར་པས་ན་རྡོ་རྗེ་འཆང་ཉིད་དུ་འགྲུབ་པར་བྱེད་དོ༎

རིམ་པ་གསུམ་པ་སྔོན་ཉམས་སུ་མྱོང་བ་དྲན་པ་བསྐྱེད་པ། ཆོས་ཀྱི་ཕྱག་རྒྱ་ཡིད་ནས་[4]བྱུང་བའི་ཕྱག་རྒྱ་ལས་རབ་ཏུ་བྱུང་བར་ཡང་དག་པར་བརྟན་པས་རྡོ་རྗེ་འཆང་བ་ཉིད་སྐྱེད་[5]པར་བྱེད་པའོ༎

ནོར་བུ་འགེངས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་རིམ་པ་བཞི་པ་ཡང་བརྗོད་པ། ཐམས་ཅད་དུ་སོན་ཞིང་རྟེན་དང་བྲལ་བ་བརྟན་པ་དང་གཡོ་བ་མཐའ་དག་གི་ངོ་བོ་ཉིད་དུ་གྱུར་པའི་སེམས་ཁམས་གསུམ་པ་ཁྱབ་པའི་སྟོང་པ་ཉིད། ཕྱག་རྒྱ་ཆེན་པོ་དང་འཁྲུད་པས་བསམ་གྱིས་མི་ཁྱབ་པའི་རང་བཞིན་ཅན་བླ་མའི་བཀའ་དྲིན་ལས་སྐྱེས་པའི་བརྟན་པར་བྱས་པའི་རྡོ་རྗེ་འཆང་ཆེན་པོ་ཉིད་སྒྲུབ་པར་བྱེད་ཅིང་། ཕྱག་རྒྱ་ཆེན་པོ་དང་འཁྲུད་པའི་བདེ་བ་ཆེན་པོ་དང་ཐམས་ཅད་སྐྱེད་པར་[6]བྱེད་པའོ༎

ད་ནི་ཛཱ་ལན་དྷ་རའི་[7]རིམ་པ་བརྗོད་པར་བྱའོ༎

---

1. ཆོས་ཀྱི་ཕྱག་རྒྱའི་ པེ། སྣ། གསེར།
2. རང་བཞིན་གྱི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་དོན་དམ་པའི་ པེ་ཅིང་དང་སྣར་ཐང་པར་གཉིས་སུ་ལྷག
3. སེམས་དོན་དམ་པའི་རང་བཞིན་གྱི་སེམས་དོན་དམ་པའི་རང་བཞིན་ གསེར་བྲིས
4. ཡིད་ལས་ གསེར།
5. བསྐྱེད་ གསེར།
6. བསྐྱེད་པར་ གསེར།
7. ཛཱལནྡྷརའི་ སྣ། གསེར།

ལྟེ་བ་ཆུ་སོའི་མཚམས་སུ་ནི།།
མདོག་ལྗི་ལྗན་པའི་ཐིག་ལེ་ནི།།
སངས་རྒྱས་ལྷ་རྣམས་ཀྱིས་མཆོད་པ།།
འཁོར་ལོ་གྲུ་གསུམ་དཀར་དམར་ནི།།

སྲོག་འགོག་[1]ལྐན་ཅིག་བསྒོམ་བྱས་ནས།།
སྐད་ཅིག་དེ་ལས་འབར་གྱུར་པས།།
འཇིག་རྟེན་ཁམས་སུ་མཆོད་བྱ་བ།།
རྡོ་རྗེ་འཛིན་པ་དངོས་སུ་འགྱུར།།

བུ་ག་གཞན་ནས་འབྱུང་འགྱུར་ཞིང་།།
མཁའ་གཞན་ནས་ནི་སྐྱུར་དུ་འཇུག།
གང་ཚེ་བསྒོམ་པ་བརྟན་གྱུར་པ།།
སྣང་བ་དངོས་སུ་ཐོབ་པར་འགྱུར།།

འབར་བ་བརྟན་པར་གྱུར་པ་ནི།།
ལྟེ་རྩ་ནས་ནི་རྣམ་པར་གནས།།
ཇི་སྲིད་འདོད་པ་དེ་སྲིད་དུ།།
ལྟེ་ནི་འཕེལ་བར་འགྱུར་བ་དང་།།

---

1. སྲོག་འཛིན་ རྒྱ་དཔེ།

དབྱུང་བའི་རྩ་བར་སོན་པའི་ཀླུང་[1]།།
ཀུན་དུ་འགྲོ་བས་ལུས་བསྐྱོད་ཅིང་།།
ཁམས་གསུམ་པ་ནི་ཐམས་ཅད་དུ།།
རྣམ་པར་ལྟ་བ་ལ་སོགས་བྱེད།།

ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཛཱ་ལན་དྷ་རའི་རིམ་པའོ།། །།

རིམ་པ་ལྔ་པ་བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ།

གཟུགས་སོགས་རྣམས་[2]ཀྱི་གྲངས་འགྱུར་ཏེ།།
ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱིས་གང་གཡོ་བའི།།
སེམས་ནི་སྙིང་གར་བརྟན་བྱས་ནས།།
བློ་དང་ལྷན་ཅིག་དབང་དུ་བྱ།།

གཟུང་འཛིན་དང་ནི་བྲལ་བས་ན།།
དམིགས་པ་ཀུན་དང་བྲལ་བའི་སེམས།།
བསམ་དུ་མེད་པའི་རང་བཞིན་ཕྱིར།།
ཅི་ཡང་བསམ་པར་མི་བྱའོ།།

སེམས་ནི་སྟོང་ཉིད་ལ་གཞུག་ཅིང་།།
སྟོང་པ་སེམས་སུ་རྣམ་གཞུག་བྱ།།

---

1. སོན་པའི་མེ་ ཀྱུ་དཔེ།
2. གཟུགས་རྣམས་ པེ། སྣ། གསེར།

སྟོང་དང་སྟོང་མིན་ལ་སོགས་པ॥
ཀུན་རྟོག་རབ་སྤང་[1]མཁའ་མཉམ་འགྱུར॥

རྟེན་དང་བརྟེན་པ་ཡོད་མིན་དང་॥
དཔེ་མེད་བཞི་ནི་ཡོད་མ་ཡིན॥
དེ་ཉིད་ལྷ་པ་རྫོགས་རིམ་ནི॥
ཟད་མེད་[2]ལྷན་ཅིག་སྐྱེས་པ་ནི॥

ཞིང་དང་ཚོར་མ་ལྷུག་མ་སོགས॥
ཁམས་གསུམ་རྒྱུ་དང་མི་རྒྱུར་བཅས॥
དེ་བཞིན་བདག་གི་དེ་ཉིད་དང་॥
རྗེས་སུ་མཐུན་པ་མདོར་བསྒོམ་བྱ॥

ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱིས་སྒོམ་བྱེད་[3]ཀྱང་॥
དེ་རྟོགས་པར་ནི་བྱེད་མ་ཡིན॥
གལ་ཏེ་དེ་ནི་ཀུན་རྟོགས་ན॥
འགྲོ་བའི་སྤྱོད་པ་འཇིག་པར་གྱུར[4]॥

---

1. རབ་སྤངས་ པ། སྣ། གསེར།
2. ཟག་མེད་ སྡེ་དགེ
3. ཀྱི་སྒོམ་བྱེད་ པ། སྣ། ཀྱི་བསྒོམ་བྱེད་ གསེར།
4. འཇིགས་པར་འགྱུར་ པ། སྣ། གསེར།

རྣལ་འབྱོར་གཉིད་དང་ལྡན་པ་ཡིས[1]།།
རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་འདི་ཧྲགས་མཛད།།
དེས་ན་རང་བྱུང་རང་ཉིད་ནི།།
རྫོགས་སངས་རྒྱས་ཞེས་བརྗོད་པ་ཡིན།།

མཐའ་བཞི་ལས་ནི་གྲོལ་བ་ཡིན།།
དུས་གསུམ་སངས་རྒྱས་རང་བཞིན་ཉིད།།
སྒོམ་པ་དེ་ནི་རིང་པོ་ཉིད།།
མི་ཐོགས་རྡོ་རྗེ་སེམས་དཔར་འགྱུར།།
དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རིམ་པ་ལྔ་པ།།

སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་མཁས་པ་རྡོ་རྗེ་དྲིལ་བུ་པས་མཛད་པ་རྫོགས་སོ།། །།

རྒྱ་གར་གྱི་པཎྜིཏ་གྲྀཥྞ་པཎྜིཏ[2]དང་། དགེ་སློང་ཚུལ་ཁྲིམས་རྒྱལ་བས་བསྒྱུར། ཕྱིས་བླ་མ་སུ་མ་ཏི་ཀཱིརྟི་དང་། དགེ་སློང་བློ་ལྡན་ཤེས་རབ་ཀྱིས་བཅོས་པའོ། །དཔལ་ཕམ་[3]མཐིང་པའི་བརྒྱུད་པ་[4]མ་ནོར་བའི་བཤད་པའོ།། །།

1. ལྡན་པ་ཡི་ པེ། སྣ། གསེར།
2. པཎྜིཏ་གྲྀཥྞ་ པེ། སྣ། པཎྜིཏ་ཀྲྀཥྞ་པཎྜིཏ་ གསེར།
3. དཔལ་ཕཾ་ སྣ།
4. རྒྱུད་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

आर्यग्रहमातृका नाम धारणी

ĀRYAGRAHAMĀTṚKĀ NĀMA DHĀRAṆĪ

आदर्श प्रति

सं॰ धारण्यादिसंग्रह - 3/589

पत्र सं॰ - 148^{b}-150^{a}, 299^{b}-302^{a}

राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल।

भो॰ འཕགས་མ་གཟའ་རྣམས་ཀྱི་ཡུམ་ཞེས་བྱ་བའི་གཟུངས།

(तो॰ 660, 661)

आर्यग्रहमातृका नाम धारणी

ॐ नमो भगवत्यै आर्यग्रहमातृकायै।

एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवानडकवत्यां महानगर्यामनेकदेवनागयक्ष[1]राक्षसगन्धर्वासुरगरुडकिन्नरमहोरगा[2]पस्मारादित्यसोमाङ्गारबुधबृहस्पतिशुक्रशनिश्चरराहुकेत्वादिभिश्चाष्टाविंशतिनक्षत्रादिभिः स्तूयमानो महावज्रसमयालङ्कारव्यूहाधिष्ठानाधिष्ठिते सिंहासने विहरति स्म। अनेकैर्बोधिसत्त्वसहस्रैः सार्धम्। तद्यथा—वज्रपाणिना च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। वज्रचण्डेन च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। वज्रसेनेन च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। [3]वज्रविनायकेन च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। वज्रचापहस्तेन च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। [4]वज्रविकुर्वितेन च बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। वज्राधिपतिना च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। वज्रालङ्कारेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। [5]वज्रविक्रमेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। ज्योतिवज्रेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। अवलोकितेश्वरेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। [6]समन्तभद्रेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। समन्तावलोकितेश्वरेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। लोकश्रिया च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। पद्मकेतुना च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। [7]रत्नकेतुना च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। विकसितवक्त्रेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। पद्मगर्भेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। पद्मनेत्रेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। मञ्जुश्रिया च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन। मैत्रेयेण च नाम बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन।

एवं प्रमुखैर्बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैः शतसहस्रैः सार्द्धं परिवृतः पुरस्कृतो भगवन् धर्मं देशयति स्म। आदौ कल्याणं मध्ये कल्याणं पर्यवसाने कल्याणं स्वर्थं

---

1. 'राक्षस'- गृहीतस्तु भोटानुसारी।
2. मार- भो. 'यम' इत्यधिकम्- भो.
3. 'वज्र.......महासत्त्वेन', नास्ति- भो.
4. 'वज्र.......महासत्त्वेन', नास्ति- भो.
5. 'वज्र.......महासत्त्वेन', नास्ति- भो.
6. 'समन्त.....महासत्त्वेन', नास्ति- भो.
7. 'रत्न.........महासत्त्वेन', नास्ति- भो.

सुव्यञ्जनं केवलं परिपूर्णं परिशुद्धपर्यवदातं [1]ब्रह्मचर्यं संप्रकाशयति स्म। चिन्तामणिमहाव्यूहालङ्कारं नाम धर्मपर्यायं देशयति स्म। अथ खलु वज्रपाणि-र्बोधिसत्त्वो महासत्त्वस्तत्पर्षन्मण्डलमवलोक्यासनादुत्थाय स्वऋद्ध्याधिष्ठानेन भगवन्तमनेकशतसहस्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य पुरतो निषद्य सगर्वेण पर्यङ्कमा-पूर्य(भुज्य) लीलया तत्पर्षन्मण्डलमवलोक्य वज्राञ्जली स्वहृदये प्रतिष्ठाप्य भगवन्तमेतदवोचत्। ग्रहाश्च भगवन्नुग्रानुग्ररूपाश्च रौद्रारौद्ररूपाश्च क्रूराक्रूररूपाश्च-(चित्ताश्च) सत्त्वान् विहेठयन्ति। केषाञ्चित् प्राणमपहरन्ति केषाञ्चिदुपद्रवाश्च कुर्वन्ति केषाञ्चिदोजोहारांश्च कुर्वन्ति केषाञ्चिद् द्रव्यमपहरन्ति केषाञ्चिद्दीर्घा-युष्सत्त्वानामल्पायुषं कुर्वन्ति। एवं सर्वसत्त्वानामुपद्रवेण वाहयन्ति। [2]तद्देशयतु भगवन् धर्मपर्यायं येन सर्वसत्त्वानां [3]सर्वोपद्रवेभ्यो रक्षा भविष्यति।

भगवानाह—साधु साधु वज्रपाणे यस्त्वं सर्वसत्त्वानामर्थाय हिताय सुखाय कृपाचित्तमुत्पाद्य महागुह्यातिगुह्यतरं तथागतं सम्यक्संबुद्धं परिपृच्छसि। तच्छृणु साधु च सुष्ठु च मनसि कुरु भाषिष्येऽहं ते। ग्रहाणामुग्ररूपाणां क्रूरातिभीषण-मुखानां महागुह्यातिगुह्यतरं दिव्यपूजामर्घं च जापञ्च धूपञ्च—

यथानुवर्णभेदेन यथा तुष्यन्ति ते ग्रहाः ।
पूजिताः प्रतिपूज्यन्ते निर्दहन्ते यमानितः ॥ 1 ॥

देवा[श्चा]प्यसुराश्चैव किन्नराश्च महोरगाः ।
यक्षाश्च राक्षसाश्चैव मनुषाश्चैवामानुषाः ॥ 2 ॥

शमयन्ति च क्रुद्धाश्च महानुग्राश्च तेजसा ।
पूजां तेषां प्रवक्षामि मन्त्रांश्चापि यथाक्रमम् ॥ 3 ॥

अथ खलु भगवाञ्छाक्यमुनिः सम्यक्सम्बुद्धः स्वहृदयात् करुणाविक्रीडितं नाम रश्मिजालं(ज्वालं) निश्चार्य ग्रहाणां मूर्ध्नि प्रवेशयति स्म। अथ तत्क्षणादेव ते सर्वे आदित्यादयो ग्रहा उत्थाय भगवन्तं शाक्यमुनिं तथागतमर्हन्तं सम्यक्संबुद्धं सर्वाभिर्दिव्यपूजाभिः पूजयित्वा प्रणम्य जानुभिर्निपत्य कृताञ्जलिपुटा भूत्वा भगवन्तमेतदवोचन्।

1. 'ब्रह्मचर्यं.....स्म', नास्ति- भो.
2. तस्माद्दे०- भो.
3. 'सर्वोपद्रवेभ्यो', नास्ति- भो.

अनुगृहीता वयं भगवता तथागतेनार्हतो सम्यक्संबुद्धेन तद्देशयतु भगवन् तादृशं धर्मपर्यायं येन वयं सामग्रीभूतस्य धर्मभाणकस्य रक्षां कुर्यामः। गुप्तिं परित्राणं परिग्रहं परिपालनं शान्तिं स्वस्त्ययनं दण्डपरिहारं शस्त्रपरिहारं विषदूषणं विषनाशनं सीमाबन्धनं धरणीबन्धं च कुर्यामः।

अथ खलु भगवाञ्छाक्यमुनिस्तथागतोऽर्हन्सम्यक्संबुद्धो ग्रहाणां मन्त्रपूजाश्च भाषते स्म। [1]ॐ मेघोल्काय स्वाहा। ॐ शीतांशवे स्वाहा। ॐ रक्ताङ्गकुमाराय स्वाहा। ॐ बुधाय स्वाहा। ॐ बृहस्पतये स्वाहा। ॐ असुरोत्तमाय स्वाहा। ॐ कृष्णवर्णाय स्वाहा। [2]ॐ राहवे स्वाहा। ॐ ज्योतिः केतवे स्वाहा। यथानुक्रमभेदेन दिशाश्चोपदिशाश्च गन्धमण्डलकं पद्ममध्ये द्वादशाङ्गुलप्रमाणं चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणशोभितं कूटागारं चक्रसमन्वितं कर्तव्यम्। तन्मध्ये सितकमलोपरि [कुङ्कुमगन्धमण्डलके] चिन्तयेद्देवं भास्करं तापसरूपधरं भुजाभ्यां सितकमलधरं रक्तवर्णं सहस्रसूर्यकोटिसमतेजोमालिनं विग्रहम्। अस्य देयं क्षीरभोजनं कुन्दुरुधूपम्। ॐ मेघोल्काय स्वाहा।

पूर्वस्यां दिशि रक्तकमलोपरि प्रियङ्गुगन्धमण्डलके सोमो ब्राह्मण इति ज्ञेयं सितवर्णं जटामुकुटपुष्पावसक्तं भोजनघृतोदनं श्रीवासधूपः। ॐ चन्द्रामृत-विक्रमाय[नमः।] शीतांशवे स्वाहा।

दक्षिणस्यां दिशि शुक्लकमलोपरि चन्दनगन्धमण्डलके भिक्षुरूपो मङ्गलो रक्तवर्णो रत्नमकुटो वामे शक्ति दक्षिणे वरदहस्तो भोजनमस्य क्षीरभोजनं माषभक्तं वा गुग्गुलधूपः। ॐ रक्ताङ्गारसोज्ज्वलकुमाराय नमः। अङ्गाराय स्वाहा।

पश्चिमायां दिशि रक्तपद्मोपरि कृष्णागरुगन्धमण्डलके ब्रह्मचारी बुधः स्यात् पीतवर्णो रक्तश्मश्रुः अक्षसूत्रकमण्डलुधरः। भोजनं मुङ्ग(द्ग)माषकृषरः। धूपो गन्धरसः। ॐ राजपुत्रपीतवर्णाय नमः। बुधाय स्वाहा।

उत्तरस्यां दिशि सितकमलोपरि देवदारुगन्धमण्डलके परिव्राजको गुरुस्तप्तकाञ्चनवर्णाभो रक्तश्मश्रुः अक्षसूत्रकमण्डलुधरः। अस्य देयं दधिभक्तोदन-क्षीरं वा मधुघृतधूपः। ॐ लोहितवर्णनिगमाय नमः। भोगास्पदाय स्वाहा।

---

1. भोटे मण्डलस्वरूपवर्णनप्रसङ्गे व्यतिक्रमो वर्तते।
2. ॐ अमृतप्रियाय- भो.

आग्नेयां दिशि रक्तपद्मोपरि चन्दनगन्धमण्डलके शुक्रपाशुपतधारि गोक्षीर-वर्णधवलाम्भो जटामुकुटाक्षसूत्रकमण्डलुधरः। अस्य देयं क्षीरभोजनं कर्पूरधूपः। ॐ नमः शुक्राधिपतये असुरोत्तमाय शुद्धविरहे(ग्रहे) स्वाहा।

नैर्ऋत्यां दिशि सितपङ्कजोपरि नीलचन्दनगन्धमण्डलके शनिश्चरो कृष्णवर्ण-फणभृत्क्षपणको ज्ञेयः बीजजटामुकुटश्मश्रुः। अक्षसूत्रक्षिक्षिरिकाधरो भोजनमस्य माषभक्तकृषरः। धूपो गन्धरसः। ॐ नीलवर्णसन्निभाय नमः। कृष्णशनिश्चराय स्वाहा।

वायव्यां दिशि रक्ताम्भोजोपरि तगरादिगन्धमण्डलके कापालिको राहु राजावर्तनिभोऽर्द्धदेहो रविरथभयानकलोचनयुगो दंष्ट्राकरालो भृकुटीकृतललाट-पञ्चवर्णः मेघमध्यगतो भुजाभ्यां चन्द्रसूर्यकमलाभिनयस्थितः। अस्य देयं माषामिषभोजनं तिलकृस(ष)रो वा विल्वपत्रधूपः। ॐ विकृतवदनरुधिराशिन् राहो भृङ्गाञ्जनसन्निभाय नमः। अमृतप्रियाय स्वाहा।

ऐशान्यां दिशि रक्तसरोरुहोपरि स्पृक्कागन्धमण्डलके चाण्डालकेतुर्भवेत्। धूम्रवर्णः कृताञ्जलिर्नागाकृतिः स्वपुच्छभृत्। अस्य देयं भोजनं घृतपूरकं सज्जरसो धूपः। ॐ धूम्रवर्णसन्निभाय ज्योतिष्केतवे नमः स्वाहा।

मण्डलस्य पूर्वद्वारे बुद्धो भगवान्, दक्षिणद्वारे वज्रपाणिः पश्चिमद्वारे लोकनाथः उत्तरद्वारे मञ्जुश्रीकुमारः। पूर्वोत्तरकोणे सर्वे ग्रहाः पूर्वदक्षिणकोणे सर्वे राशिनक्षत्राः दक्षिणपश्चिमकोणे सर्वोपद्रवाः पश्चिमोत्तरकोणे भट्टारिका महाविद्या। श्वेता नीलारुणत्रिमुखा हस्तद्वयेन व्याख्यानमुद्रा दक्षिणे रत्नछत्रा, वामे पाशशक्तिधरा रत्नमुकुटीवज्रपर्यङ्कोपविष्टा चन्द्रासनसमासीना षोडशवर्षाकारा सर्वालङ्कारभूषिता।

बाह्यपूर्वद्वारे धृतराष्ट्रस्य दधिभक्तं, दक्षिणे विरूढकस्य दधिमाषभक्तं, पश्चिमे विरूपाक्षस्य क्षीरभक्तम्, उत्तरे कुबेरस्य दधिमाषभक्तं सिन्दूरमस्तकम्। यथानुक्रमभेदेन पुष्पादिपूजा कर्तव्या। प्रत्येकं दीपो देयः। घृतमधुभ्यां शंखं पूरयित्वा पञ्चरत्नं प्रक्षिप्यार्घो देयः। सर्वेषां मुखपटो देयमिति। एवं वर्णभुजासन-मुद्राचिह्नानि भवन्ति।

ॐ नमः सर्वतथागतेभ्यः सर्वाशापरिपूरकेभ्यः सर्वथा भक्तिने स्वाहा। रत्नत्रयस्य मन्त्रं एवं प्रत्येकं जपेत् सप्तसप्ताष्टशतं मन्त्रमेकैकशः। एवं पूजिताः सर्वे ग्रहा विविधरूपिणो ददति विपुलान् भोगान् सौभाग्यान् जनयन्त्यपि।

इमानि वज्रपाणे नवग्रहाणां हृदयानि पठितसिद्धानि यथानुक्रमभेदेन गन्ध-मण्डलकं कृत्वा द्वादशाङ्गुलिमध्ये पूजयितव्यानि ताम्रमृण्मयरूप्यादिभाजनेन अर्घं दत्वाष्टोत्तरशतवारान् मन्त्रं जपेत् एकैकशः। पश्चात् पुनर्वज्रपाणे गृहमातृकानाम धारणीमन्त्रपदानि सप्तवारानुच्चारयितव्यानि। ततस्ते आदित्यादयो रक्षावरणगुप्तिं करिष्यन्ति। दारिद्र्यं दुःखं मोचयिष्यन्ति गतायुषं दीर्घायुषं करिष्यन्ति।

यश्च खलु पुनर्वज्रपाणे भिक्षुभिक्षुण्युपासकोपासिकान्ये वा सत्त्वजातीया येषां कर्णपुटे शब्दं निपतिष्यन्ति न तेषामकालमृत्युना कालं करिष्यन्ति। यश्च खलु पुनर्वज्रपाणे ग्रहान् मण्डलमध्ये पूजयित्वा दिने दिने सप्तवारानुच्चारयिष्यन्ति। तत्र तस्य धर्मभाणकस्य सर्वे ग्रहाः सर्वेण सर्वाशां परिपूरयिष्यन्ति। तत्कुलादपि दारिद्र्यञ्च नाशयिष्यन्ति।

अथ खलु भगवाञ्छाक्यमुनिस्तथागतः पुनरपि गृहमातृकानाम धारणी-मन्त्रपदानि भाषते स्म। [1]ॐ नमो रत्नत्रयाय। ॐ नमो बुद्धाय। [2]ॐ नमो धर्माय। [3]ॐ नमः संघाय। ॐ नमो वज्रधराय। ॐ नमः पद्मधराय। ॐ नमः कुमाराय। ॐ नमः सर्वग्रहाणां सर्वाशापरिपूरकाणाम्। ॐ नमः नक्षत्राणाम्। ॐ नमो द्वादशराशीनाम्। [4]ॐ नमः सर्वोपद्रवाणाम्। तद्यथा—

ॐ बुद्धे 2 शुद्धे 2 वज्रे 2 पद्मे 2 सर 2 प्रसर 2 स्मर 2 [5]क्रीड 2 क्रीडय 2 [6]मर 2 मारय 2 मर्दय 2 [7]स्तम्भ 2 स्तम्भय 2 [8]घट 2 घाटय 2 [9]मम सर्वसत्त्वानाञ्च

---

1. 'ॐ नमो रत्नत्रयाय' नास्ति- भो.
2. 'ॐ नमो धर्माय' नास्ति- भो.
3. 'ॐ नमः संघाय' नास्ति- भो.
4. 'ॐ नमः सर्वोपद्रवाणाम्' नास्ति- भो.
5. 'क्रीड' नास्ति- भो.
6. 'मर' नास्ति- भो.
7. 'स्तम्भ' नास्ति- भो.
8. 'घट' नास्ति- भो.
9. सर्वविघ्नां करु कुरु मम कार्यं छिन्ध छिन्ध सर्वदुष्टां क्षापय क्षापय शान्ते शान्ते दान्ते दान्ते दामय दामय स्वाहा। द्रुतान् दर्शय आत्मानं रक्ष रक्ष मां सर्वसत्त्वांश्च सर्वग्रहानक्षत्रविध्वंसनिवर्तय। भगवती महामाये

विघ्नान् छिन्द छिन्द भिन्द 2 सर्वविघ्नान् नाशनं कुरु 2 मम सपरिवारस्य सर्वसत्त्वानाञ्च कार्यं क्षेपय 2 मम सर्वसत्त्वानाञ्च सर्वनक्षत्रग्रहपीडान् निवारय 2 भगवति श्रियं कुरु महामाया प्रसाधय सर्वदुष्टान्नाशय सर्वपापानि मम सपरिवारस्य सर्वसत्त्वानाञ्च रक्ष 2 वज्रे 2 चण्डे 2 चण्डिनि 2 नुरु 2 मुसु 2 मुमु 2 मुञ्च 2 हवा हवे उग्रे उग्रतरे पूरय भगवति मनोरथं मम सर्वपरिवारस्य सर्वसत्त्वानाञ्च सर्वतथागताधिष्ठानाधिष्ठिते स्वाहा। ॐ स्वाहा। हूँ स्वाहा। ह्रीः स्वाहा। धूः स्वाहा। धीः स्वाहा। ॐ आदित्याय स्वाहा। ॐ सोमाय स्वाहा। ॐ धरणीसुताय स्वाहा। ॐ बुधाय स्वाहा। ॐ बृहस्पतये स्वाहा। ॐ शुक्राय स्वाहा। ॐ शनिश्चराय स्वाहा। ॐ राहवे स्वाहा। ॐ केतवे स्वाहा। ॐ बुद्धाय स्वाहा। ॐ वज्रपाणये स्वाहा। ॐ पद्मधराय स्वाहा। ॐ कुमाराय स्वाहा। ॐ सर्वग्रहाणां स्वाहा। ॐ सर्वनक्षत्राणां स्वाहा। ॐ सर्वोपद्रवाणां स्वाहा। ॐ द्वादशराशीनां स्वाहा। ॐ सर्वविघ्ने हुँ 2 फट् स्वाहा।

इमानि वज्रपाणे ग्रहमातृकानाम धारणीमन्त्रपदानि सर्वसिद्धिकराणि च। यच्च खलु पुनर्वज्रपाणे इमानि ग्रहमातृकानाम धारणीमन्त्रपदानि कार्तिकमास-शुक्लपक्षस्य सप्तमीमारभ्योपोषधिको भूत्वा यावच्चतुर्दशीग्रहनक्षत्रान् मध्ये पूजयित्वा दिने दिने सप्तवारानुच्चारयितव्यानि। ततः पूर्णमास्यामहोरात्रं वाचयेत्। तस्य नवनवतिवर्षाणि मृत्युभयं न भविष्यति। उल्कापातग्रहनक्षत्रपीडाभयं न भविष्यति। जातौ जातौ जातिस्मरो भविष्यति। सर्वे ग्रहा ईप्सितं वरं दास्यन्ति।

अथ ते सर्वे ग्रहाः साधु भगवन्निति कृत्वा प्रणम्यान्तर्हिताभूवन्निति। [1]इदमवोचद् भगवानात्तमनास्ते च भिक्षवस्ते च बोधिसत्त्वा महासत्त्वाः सा च सर्वावतीपर्षत् सदेवमानुषासुरगरुडगन्धर्वश्च लोको भगवन्तो भाषितमभ्यनन्दन्निति॥

आर्यग्रहमातृकानाम धारणी समाप्ता॥

•

प्रसादय सर्वदुष्टं शोधय सर्वपापं चण्डे चण्डे तुरु तुरु चण्डिनी चण्डिनी मुयु मुयु मुचु मुचु वह वह उग्रे उग्रतमे पूरय मे मनोरथं परिपूरय। सर्वतथागत अधिष्ठिते समये स्वाहा। ॐ स्वाहा। हुँ स्वाहा। ह्रि स्वाहा। धुं स्वाहा। ह्रीं स्वाहा- भो.

1. 'इदम्.....नन्दन्निति' नास्ति- भो.

ABSTRACT OF ARTICLES

Stotras *1-6*

In this issue, the following stotras are being reproduced :

1. Sarvatathāgatastava (from 20th Parivarta, *Suvarṇaprabhāsasūtra*)
2. Avalokiteśvaranāmāṣṭaśatādhyeṣaṇā (from *Sarvatathāgatatattva-saṁgraha*, pp. 109-110)
3. Vajradharasaṁgītā stutiḥ (from *Trisamayarājasādhana*, *Sādhanamālā*, Part I, pp. 15-16)

The *Sarvatathāgatastava* is reproduced here with certain emendations on the basis of the Tibetan translation.

Commentary on Four Verses *7-12*

The first four verses of the Yoginīsañcāratantra indicate the contents of the work. The first verse speaks of the *anubandhas,* namely, *abhidhāna, abhidheya, sambandha, prayojana* and *prayojana-prayojana.* The second and the third verse discuss the *uddeśa,* the *nirdeśa* and the *pratinirdeśa.* The fourth one states that this process can be accomplished through the 37 *Bodhipākṣikadharmas.* A general commentary can be seen in the text itself. In addition to that, Alakakalaśa, in his exegesis called the *Upadeśānusāriṇī,* has written three special commentaries, namely, the outer commentary, the inner commentary and the secret commentary. A Hindi translation of the words of the commentator has been given in this essay.

Glossary of Buddhist Technical Terms *13-36*

Under this title, in the present issue, is given a glossary of the Buddhist technical terms collection from the Laghutantrarājaṭīkā of Vajrapāṇi, the Sanskrit text, critically edited by CLAUDIO CICUZZA. This work has been edited on the basis of various Sanskrit MSS and the Tibetan translation of the text. The work, along with an elaborate introduction and appendices, has been published in Roman script under the series SERIE ORIENTALE ROMA, bearing no. LXXXVI, by ISTITUTO ITALIANO PER L'AFRICA E L' ORIENTE, Rome, in 2001.

This work, composed by Vajrapāṇi, is a commentary on the ten and a half verses which begin with *athāto rahasyam* and end with *neṣṭasiddhir avāpyate.* The verses form a part of the first Paṭala, namely, the *Maṇḍalāvatāra* of the *Herukābhidhāna-cakrasaṁvaratantra.* This Tantra, consisting of in all 51 Paṭalas, is a *Laghutantra,* abridged from the Lakṣābhidhāna Tantra that is supposed to be the root-*tantra* of the *Saṁvaratantra.*

Philosophy and Spiritual Practice of Siddhas *37-50*

Darśana means 'vizualization': The spiritual practitioners followed certain doctrines and became Siddhas. The Philosophy of the Siddhas comprises the same doctrines. Those doctrines have been elaborated in the Vajrayāna texts, for the followers of the Vajrayāna possess keener faculties, in comparison with ordinary followers and are therefore more sensitive. As a result, they attain the Siddhi very quickly. The present essay introduces in brief the same doctrines such as-- the four classes of tantra (Kriyātantra, Caryātantra, Yogatantra and Anuttarayogatantra), Prabhāsvaratā, Utpattikrama, Sampannakrama, Trikāya etc.

Trikāyastotra of Mahācārya Ārya Nāgārjuna *51-66*

We come accross in the Śāstras the elucidation of two to five bodies of the Buddha that is the result of the complete practice both of the ways of the Sūtras and Tantras. In the work under discussion, Nāgārjuna has paid homage to and praised, with faith and reverence, the three bodies (of the Buddha), in a sequence, namely the *Dharmakāya* (which includes the *Svabhāvakāya* and the *Jñānadharmakāya*), the Sambhogakāya and the *Nirmāṇakāya.* He has also added charm to his work by including *praṇidhāna* and *pariṇāmanā* .

A commentary on this work is available in Tanjur. All the lists of Tanjur mention it as a work of Nāgārjuna. However, on the basis of the internal evidence of the root-text and the commentary, the said statement does not seem to be valid. The author of this essay has thrown light on this subject in his brief introduction.

The work consists of four verses in all, three out of which, describing the three bodies, are fortunately available in Sanskrit. The fourth

one has been restored into Sanskrit from the Tibetan. The essay also includes a Hindi translation of the work, an edited text and a brief introduction.

Sources of Rare Buddhist Texts *67-88*

Under this title, the information of 79 important manuscripts had been given in the 38th issue of *Dhīḥ*. In this issue, the information of other 68 manuscripts is being given.

Various Forms of Avalokiteśvara *89-98*

The present essay describes various forms of Bodhisattva Avalokiteśvara; the most popular deity in the Buddhist pantheon. He is the son of Amitābha, one of the five Tathāgata Buddhas and his consort Pāṇḍarā. According to the *Sādhanamālā*, Avalokiteśvara is adorned with various ornaments and has three heads, three eyes and four arms. Two of the arms are in the Vyākhyānamudrā. The right of the remaining two hands is in the Varadamudrā, while the left holds *nāgakesara*.

Reflections on the Master and the Disciple in the Non-Buddhist Tantras *99-120*

In the previous issues of *Dhīḥ* (nos. 37 and 38), light had been thrown on the nature, characteristics and merits of the master and the disciple, as described in the Buddhist Tantras. In continuation with the same, a light is being thrown in this issue on the characteristics of the master and the disciple, the etymology of the word *guru*, his nature, the conduct of the disciple, glorification of the master etc.

The General and Concise Arrangement of Tantra *121-134*

Under this title, a translation had been given serially in the previous issues of *Dhīḥ*, of the treatise composed by Buston, namely, "The Key Opening the Door of the Treasure of Jewels (in the form of) General and Concise Arrangement of Tantras". In this issue, under the title "The Spread (Arrangement) of Tantras", is being given the translation of the section on the subject-matter of Kiryā and Caryā tantras", a sub-division of "the division of the subject-matter of Tantras".

Dīkṣā : Initiation in Buddhist and Non-Buddhist Systems *135-148*

In the previous issues of Dhīḥ (nos. 36, 37, and 38), the procedure of the initiation pertaining to the Buddhist, the Jaina and the Vedic systems (i.e. Vedic dīkṣā or the upanayana-saṁskāra) has been described. In this issue is described in brief the rite of dīkṣā according to the Vaikhānasa and the Pāñcarātra systems. The rite of dīkṣā in these Vaiṣnavite systems comes under the Vedic dīkṣā. The essay introduces in particular the construction of the Maṇḍala, its installation, the religious performance on the 12th day (according to the (Hindu) lunar calender), the precepts for the disciple, the characteristics of the master etc.

Śrīcakrasaṁvarapañcakrama *149-168*

A small work, namely, the Pañcakrama of Ācārya Ghaṇṭāpāda, is extant among the Sanskrit MSS. At the outset, the work mentions the *adhiṣṭhānakrama,* and then proceeds to the *svādhiṣṭhānakrama,* the *viśvavajrakrama,* the *maṇipūrakrama,* the *jālandharakrama* and the *oḍiyānakrama.* The Tibetan Tripiṭaka mentions an auto-commentary on this as well. As the subject matter of this work is of extreme importance, the work is being published here including the Tibetan text along with the Sanskrit one.

Āryagrahamātṛkā nāma Dhāraṇī *169-176*

There is available extensive *Dhāraṇī* literature in the Buddhist Tantric literature. The Dhāraṇīs are available in the abridged, the extensive as well as in the sūtra form. The *Āryagrahamātṛkā nāma dhāraṇī* is being reproduced here from the work called *Dhāraṇyādisaṁgraha.* There is slight difference in the text available in the Sanskrit manuscripts. There exist two Tibetan translations of the work that differ from each other to a certain extent. The text is edited here with the emendation to the extent possible.

●

རྩོམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས།

བསྟོད་པ་ཁག་གསུམ། ༡ - ༦

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིར་གསེར་འོད་དམ་པའི་མདོའི་ལེའུ་ཉི་ཤུ་པར་གསལ་བའི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་བསྟོད་པ་ཞེས་པ་འདི་བོད་འགྱུར་པར་མ་ལྷར་དག་བཅོས་བགྱིས་ཏེ་འདིར་བཀོད་པ་ཡིན། གཞན་ཡང་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་བསྡུས་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་ལེའུ་བཅུ་དྲུག་པར་གསལ་བའི་སྤྱན་རས་གཟིགས་ཀྱི་མཚན་བརྒྱ་རྩ་བརྒྱད་ཀྱིས་གསོལ་བ་བཏབ་པའི་བསྟོད་པ་དང་། སྒྲུབ་ཐབས་ཕྲེང་བ་དེབ་དང་པོར་གསལ་བའི་དམ་ཚིག་གསུམ་གྱི་རྒྱལ་པོའི་སྒྲུབ་ཐབས་སུ་བསྟན་པའི་རྡོ་རྗེ་འཛིན་པའི་གླུའི་བསྟོད་པ་(ཤོག་གྲངས་ ༡༥ - ༡༦)བཅས་ཟུར་དུ་ཕྱུང་ནས་འདིར་བཀོད་ཡོད།

རྣལ་འབྱོར་ཀུན་སྤྱོད་ཀྱི་རྒྱུད་ཀྱི་ཚིགས་སུ་བཅད་པ་དང་པོ་བཞིའི་འགྲེལ་པ། ༧ - ༡༢

རྣལ་འབྱོར་མ་ཀུན་ཏུ་སྤྱོད་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་དབུར་གསལ་བའི་ཚིགས་སུ་བཅད་པ་བཞི་སྟེ། "དེ་ནས་ཡང་དག་བཤད་པར་བྱ།། ཞེས་པ་ནས། སུམ་ཅུ་རྩ་བདུན་ཚུལ་གྱིས་ནི།།" བར་གྱིས་ནི་གཞུང་དོན་གྱི་རིམ་པ་ཙམ་སྟོན་ཅིང་། ཚིགས་སུ་བཅད་པ་དང་པོས་གཞུང་གི་རྗོད་བྱེད། བརྗོད་བྱ། འབྲེལ་བ། དགོས་པ་དང་། དེའི་དགོས་པའམ་དགོས་པའི་དགོས་པ་སྟེ་དགོས་སོགས་ཆོས་བཞི་བསྟན་ཡོད། ཚིགས་སུ་བཅད་པ་གཉིས་པ་དང་གསུམ་པས་མདོར་བསྟན་པ། བཤད་པ་དང་རྒྱས་བཤད་ཀྱི་སྐོར་ལ་གསལ་བཤད་དང་། ཚིགས་སུ་བཅད་པ་བཞི་པས་བྱང་ཆུབ་ཕྱོགས་ཀྱི་ཆོས་སོ་བདུན་གྱི་སྒོ་ནས་ཚུལ་འདི་དག་རྟོགས་པར་བྱེད་པའི་ཐབས་ལམ་བསྟན་ཡོད། ཚིགས་སུ་བཅད་པ་དེ་དག་གི་སྤྱི་བཤད་ནི་གཞུང་དེ་ཉིད་ལས་མཐའ་ཐུབ། འོན་ཀྱང་སློབ་དཔོན་ཨལཀ་ཀལཤས་མཛད་པའི་(ཤྲུཔདེཤཱནུསྭཱརིཎཱི བྲྀཏྟིཡཱ)མན་ངག་རྗེས་འབྲང་གི་འགྲེལ་པ་ཞེས་པའི་ནང་དེ་དག་གི་ཕྱིའི་བཤད་པ་དང་། ནང་གི་བཤད་པ་དང་། གསང་བའི་བཤད་པ་བཅས་བཤད་པ་གསུམ་གྱི་སྒོ་ནས་འགྲེལ་བཤད་ཁྱད་དུ

འཕགས་པ་ཞིག་མཛད་ཡོད། འདིར་དེ་ལྟར་འགྲེལ་པར་མཛད་པའི་གཞུང་ཚིག་རྣམས་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་ཉིན་སྐད་ཐོག་པབ་བསྒྱུར་ཞུས་ནས་བཀོད་ཡོད།

ནང་པའི་ཐུན་མིན་ཚོས་ཚིག་ཁག་གི་དགོངས་པ། ༡༣ - ༣༨

དུས་དེབ་འདིར་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་ཕྱག་ན་རྡོ་རྗེས་མཛད་པའི་མངོན་བརྗོད་འབུམ་པ་ལས་ཕྱུང་བ་ཉུང་ངུའི་རྒྱུད་ཀྱི་བསྡུས་པའི་དོན་རྣམ་པར་བཤད་པ་(Toh.1402)ཞེས་བྱ་བའི་གཞུང་དུ་གསལ་བའི་ནང་པའི་ཐུན་མིན་ཚོས་ཚིག་ཟ་སྐད་ཁག་ཕྱོགས་བཏུས་ཞུས་ཡོད། ཕྱག་ན་རྡོ་རྗེས་གསུངས་པའི་རྒྱུད་གཞུང་འདི་ནི་མངོན་བརྗོད་འབུམ་ཞེས་པའི་རྒྱུད་དེ་ཡིན་ཅིང་། དེ་བདེ་མཆོག་གི་རྩ་རྒྱུད་ཡིན་པར་འདོད་ཅིང་རྩ་རྒྱུད་དེ་ཉིད་ལས་ཕྱུང་བའི་རྒྱུད་ཉུང་ངུ་བསྡུས་པའམ་ལེའུ་ལྔ་བཅུ་ང་གཅིག་གི་བདག་ཉིད་ཅན་ཞིག་ཡིན། ཧེ་རུ་ཀ་མངོན་པར་བརྗོད་པའི་འཁོར་ལོ་བདེ་མཆོག་གི་ལེའུ་དང་པོ་དཀྱིལ་འཁོར་དུ་འཇུག་པའི་ལེའུར་གསལ་བའི། "དེ་ནས་གསང་བ་བཤད་པར་བྱ།། ཞེས་པ་ནས། དབང་བསྐུར་དངོས་གྲུབ་ཐོབ་མི་འགྱུར།།" ཞེས་པའི་བར་གྱི་ཚིགས་སུ་བཅད་པ་བཅུ་དང་ཕྱེད་ཀ་རྣམས་ཀྱི་འགྲེལ་བཤད་བསྟན་པའི་གཞུང་ཞིག་ཡིན། དེ་ལ་མཁས་པ་ Claudio Cicuzza ཞེས་པས་རྒྱུད་གཞུང་འདི་རྩ་བའི་མ་དཔེ་ཁག་འདྲ་མིན་དང་བོད་འགྱུར་བཅས་ལའང་གཞི་བཅོལ་གྱིས་མཁས་པའི་རྣམ་དཔྱོད་དང་ལྡན་པའི་ཐོག་ནས་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་ཏེ། གཞུང་འདི་ལ་གླེང་བརྗོད་རྒྱས་པ་ཞིག་དང་། ཁ་སྐོང་ལྷན་ཐབས་དང་བཅས་པ་རོ་མན་གཟུགས་སུ་བཀོད་པ་སྤྱི་ལོ་༢༠༠༡ ལོར་(Istituto Italiano per L´ Africa E L´ Oriente, Roma) མཐོ་སློབ་ཁང་ནས་ Serie Orientale Roma ཡོད་ཕྲེང་བརྒྱད་ཅུ་གྱ་དྲུག་པར་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་ཞིག་རེད།

གྲུབ་ཐོབ་རྣམས་ཀྱི་ལྟ་བསྒོམ། ༣༩ - ༤༠

ལྟ་བ་ཞེས་པའི་ཚིག་གི་དོན་ནི་མངོན་དུ་བྱས་པའམ་རྟོགས་པ་ལ་བྱ་ཞིང་། གྲུབ་མཐའ་གང་ཞིག་གི་རྗེས་སུ་འབྲང་ཞིང་སྒྲུབ་པ་པོ་རྣམས་ཀྱིས་མཆོག་གི་དེ་ཉིད་མངོན་དུ་བྱས་ཤིང་དེ་བསྒྲུབས་

པ་ལ་མངའ་བརྙེས་པ་དེ་ཉིད་དེའི་ལྟ་བ་ཡང་ཡིན་ལ། གྲུབ་མཐའ་དེ་དག་གི་གསལ་བཤད་རྒྱས་པར་རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་གཞུང་རྣམས་སུ་བསྟན་ཡོད། རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་གདུལ་བྱ་རྣམས་ཐེག་པ་གཞན་གྱི་གདུལ་བྱ་ལ་བལྟོས་ཏེ་དབང་པོ་རྣོ་བ་ཡིན་པས་བརྩོན་པ་ཆེ་ལ་དངོས་གྲུབ་ཐོབ་པར་མྱུར་བ་ཡིན། ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་གྲུབ་མཐའ་དེ་དག་ལ་གསང་སྔགས་ཀྱི་རྒྱུད་སྡེ་བཞི་སྟེ་བྱ་རྒྱུད་དང་། སྤྱོད་རྒྱུད། རྣལ་འབྱོར་དང་རྣལ་འབྱོར་བླ་མེད་རྒྱུད་དང་། དེ་བཞིན་འོད་གསལ་དང་། སྐྱེད་རིམ། རྫོགས་རིམ་དང་སྐུ་གསུམ་ལ་སོགས་པ་རྣམས་ཀྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས་ཤིག་བཀོད་ཡོད།

སློབ་དཔོན་འཕགས་པ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་སྐུ་གསུམ་གྱི་བསྟོད་པ། ༤༡ - ༦༦

མདོ་སྔགས་ཀྱི་ལམ་གྱི་ཉམས་ལེན་མཐའ་དག་ལ་བསྒོམ་པ་རབ་ཀྱི་མཐར་ཕྱིན་པ་ལ་བརྟེན་ནས་མཐར་ཐོབ་པའི་བླ་ན་མེད་པའི་འབྲས་བུ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྐུ་ལ་ནང་གསེས་གཉིས་དང་གསུམ་དང་བཞི་དང་ལྔའི་འཇོག་ཚུལ་གྱི་དབྱེ་སྒོ་མང་ཡང་། སྐབས་སུ་བབས་པའི་གཞུང་འདིར་ངོ་བོ་ཉིད་སྐུ་དང་ཡེ་ཤེས་ཆོས་སྐུ་གཉིས་གཅིག་ཏུ་བྱས་པའི་ཆོས་སྐུ་དང་ལོངས་སྐུ་དང་སྤྲུལ་གསུམ་ལ་རིམ་པ་བཞིན་སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཞབས་ཀྱིས་དད་གུས་ཆེན་པོས་བསྟོད་ཕྱག་དང་འབྲེལ་མཐའ་བསྔོ་སྨོན་གྱིས་བརྒྱན་ཏེ་སྐུ་གསུམ་ལ་བསྟོད་པ་ཅེས་པའི་གཞུང་འདི་བརྩམས་པར་མཛད་ཡོད། གཞུང་འདི་ལ་རྒྱ་འགྲེལ་ཞིག་ཡོད་པ་དེའི་སྐོར་ལ་བསྟན་འགྱུར་སྤར་མ་རྣམས་ཀྱི་དཀར་ཆག་ཁག་ཏུ་རང་འགྲེལ་ཡིན་སྐོར་གྱི་གསལ་ཁ་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། དངོས་དོན་ལ་དེ་རང་འགྲེལ་ཐེ་ལྟར་མ་ཡིན་པའི་གསལ་བཤད་དང་རྒྱུ་མཚན་གཞུང་འདིའི་ངོ་སྤྲོད་ནང་ཞིབ་གསལ་བཀོད་ཡོད།

ཚིག་བཅད་བཞིའི་བདག་ཉིད་ཅན་གྱི་བསྟོད་པ་འདིའི་གཞུང་དོན་དངོས་སྐུ་གསུམ་གྱི་རྣམ་བཞག་སྟོན་བྱེད་ཀྱི་ཚིགས་བཅད་དང་པོ་གསུམ་ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཐོག་དངོས་སུ་ཉམས་མེད་རྙེད་སོན་བྱུང་ཞིང་། ཚིགས་བཅད་མཐའ་མ་དེ་བོད་འགྱུར་ལ་གཞི་བྱས་ནས་བསྐྱར་གསོ་དང་འབྲེལ་གཞུང་ཚ་ཚང་རྟེན་སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྒྱུར་དང་། ལེགས་སྦྱར་དང་བོད་འགྱུར་དབར་འདྲ་བསྡུར་བསྒྱུར་ཞིབ་དང་། ཕྱིར་སྐུ་གསུམ་གྱི་རྣམ་བཞག་མདོར་བསྡུས་པའི་ཚུལ་དུ་བཀོད་པའི་གཞུང་དོན་ངོ་སྤྲོད

དང་། འབྲེལ་ཡོད་དཔྱད་གཞི་ཆེ་བའི་གནད་དོན་ཁག་ལ་ཉམས་ཞིབ་དང་སྦྲགས་ཏེ་ རྡོ༌རྗེ་དུས་དེབ་སོ་དགུ་པའི་ནང་པར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་དགེའོ།།

ཆོས་དཀོན་པའི་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ། ༦༥ - ༨༨

རྡོ༌འདོན་ཐེངས་སོ་བརྒྱད་པའི་ནང་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་བདུན་ཙམ་དོན་དགུའི་དཔེ་ཐོ་ངོ་སྤྲོད་ཞུས་ཟིན་ཅིང་། འདོན་ཐེངས་འདིར་སྔ་མའི་འཕྲོས་ཀྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་གཞན་དྲུག་ཙམ་རེ་བརྒྱད་ཀྱི་དཔེ་ཐོ་དང་ངོ་སྤྲོད་བཀོད་ཡོད།

སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག་གི་ངོ་བོ་མི་འདྲ་བའི་སྐོར། ༨༩ - ༩༨

ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་ནང་པའི་ལྷའི་རིགས་སྤྱིའི་ནང་ཡོད་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག་གི་རྣམ་པ་མི་འདྲ་བ་སྣ་ཚོགས་པའི་སྐོར་ལ་གསལ་བཤད་ཞུས་ཡོད། མདོར་བསྡུས་ཏེ་བརྗོད་ན་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སྤྱན་རས་གཟིགས་ནི་ནང་པའི་ལྷའི་རིགས་སྤྱི་རྣམས་ལས་ཤིན་ཏུ་གྲགས་ཆེ་ཞིང་སངས་རྒྱས་རིགས་ལྔ་ལས་འོད་དཔག་མེད་དང་དེའི་ནུས་མ་གོས་དཀར་མོ་ལས་འཁྲུངས་པ་ཡིན། སྒྲུབ་ཐབས་ཀྱི་ཐྲེང་བར་གསལ་བ་ལྟར་བྱས་ན་སྣ་ཚོགས་པའི་རྒྱན་གྱིས་བརྒྱན་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག་ཞལ་གསུམ་ལ། སྤྱན་གསུམ་པ་དང་ཕྱག་བཞི་པའི་རྣམ་པ་ཅན་དུ་གསུངས་ཡོད། དེའི་ཕྱག་དང་པོ་གཉིས་ཆོས་སྟོན་པའི་ཕྱག་རྒྱ་དང་། ཕྱག་གཞན་གཉིས་ལས་ཕྱག་གཡས་པ་མཆོག་སྦྱིན་གྱི་ཕྱག་རྒྱ་དང་། གཡོན་པ་ནཱ་ག་གེ་སར་བསྣམས་པའི་ཕྱག་རྒྱ་ཅན་ཡིན།

ནང་པ་ལས་གཞན་པའི་གཞུང་ལུགས་རྣམས་སུ་བསྟན་པའི་དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་དང་སློབ་མའི་སྐོར་ལ་འགྲེལ་བརྗོད། ༩༩ - ༡༢༠

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་སོ་བདུན་པ་དང་སོ་བརྒྱད་པ་གཉིས་སུ་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ

བསྟན་པའི་བླ་མ་དང་སློབ་མའི་ངོ་བོའམ་མཚན་ཉིད་དང་ཡོན་ཏན་རྣམས་ཀྱི་སྐོར་ལ་གསལ་བཤད་ཞུས། དེ་ལས་འཕྲོས་ཏེ་འདོན་ཐེངས་འདིར་ནང་པ་ལས་གཞན་པ་དབང་ཕྱུག་པ་དང་། ནུས་མ་བ། ཀཽལ་བཅས་ཀྱི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ནས་བསྟན་པའི་བླ་མ་དང་སློབ་མའི་མཚན་ཉིད་དང་། བླ་མ་ཞེས་པའི་ཚིག་གི་སྒྲ་བཤད། ངོ་བོ། སློབ་མའི་ཀུན་སྤྱོད་དང་། བླ་མའམ་དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་གྱི་ཆེ་བ་ལ་སོགས་པའི་བརྗོད་གཞི་རྣམས་ཀྱི་སྐོར་ལ་གསལ་བཤད་ཞུས་ཡོད།

བུ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྡུས་པ། ༡༢༡ - ༡༣༥

ཀླིཿའདོན་ཐེངས་སྔ་མ་རྣམས་སུ་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་བོད་ཀྱི་མཁས་དབང་བུ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྡུས་པ་རྒྱུད་སྡེ་རིན་པོ་ཆེའི་གཏེར་སྒོ་འབྱེད་པའི་ལྡེ་མིག་ཅེས་པའི་གཞུང་འདི་ཧིན་སྐད་ཐོག་པབ་བསྒྱུར་ཞུ་མུས་ཀྱི་རིམ་པ་ལས་འཕྲོས་ཏེ། འདོན་ཐེངས་འདིར་རྩ་བའི་ས་བཅད་བཞི་པའི་ནང་གསེས་ཀྱི་དབྱེ་བའི་སྐོར་ལས། རྒྱུད་ཀྱི་དོན་སྤྱིར་བསྟན་པ་དང་། རྒྱུད་སྡེ་བཞིའི་སྒོ་ནས་བྱེ་བྲག་ཏུ་དབྱེ་བ་ལས། བྱ་བ་དང་སྤྱོད་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་སྐོར་རྣམས་ཧིན་སྐད་ཐོག་པབ་བསྒྱུར་ཞུས་ཡོད།

ནང་ཆོས་དང་དེ་ལས་གཞན་པའི་ཆོས་ལུགས་རྣམས་སུ་ བསྟན་པའི་སྒོམ་པའི་ངོ་བོ། ༡༣༧ - ༡༥༨

དེ་སྔ་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་(༣༦, ༣༧, ༣༨)བཅས་སུ་ནང་པ་དང་གཅེར་བུ་པ་དང་རིག་བྱེད་པའི་ཆོས་ལུགས་ཀྱི་སྒོམ་པའི་རིམ་པ་བསྟན་ཟིན་ཅིང་། འདོན་ཐེངས་འདིར་རིག་བྱེད་པའི་ཆོས་ལུགས་ཀྱི་ནང་ཚན་ཁྱབ་འཇུག་པའི་ཞཻཥྞནས་དང་། པཱཤུཔཏ་ཞེས་པའི་ཆོས་ལུགས་ཀྱི་སྒོམ་པའི་ཚོ་གའི་སྐོར་མདོར་བསྡུས་ཏེ་བཀོད་ཡོད། འདིར་དམིགས་སུ་བཀར་ཏེ་དཀྱིལ་འཁོར་བཞེངས་ཚུལ་དང་། རབ་གནས། མཛད་པ་བཅུ་གཉིས། སློབ་མའི་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་། སློབ་དཔོན་གྱི་མཚན་ཉིད་ལ་སོགས་པའི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས་བསྟན་ཡོད།

སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་རྡོ་རྗེ་དྲིལ་བུ་པས་མཛད་པའི་དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རིམ་པ་ལྔ་པ། ༡༣༦ - ༡༨༥

སློབ་དཔོན་མཁས་པ་ཆེན་པོ་དྲིལ་བུ་ཞབས་ཀྱིས་མཛད་པའི་དཔལ་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རིམ་པ་ལྔ་པ་ཞེས་པའི་གཞུང་ཆུང་འདི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཕྱ་བའི་མ་དཔེ་ལག་བྲིས་རྣམས་ཀྱི་ཁྲོད་དུ་བཞུགས་པ་རྙེད་སོན་བྱུང་། གཞུང་འདིའི་དབུས་བྱིན་བརླབ་ཀྱི་རིམ་པའི་སྐོར་འཁོད་ཡོད། དེའི་རྗེས་སུ་བདག་བྱིན་གྱིས་བརླབ་པའི་རིམ་པ་དང་། སྔགས་ཚོགས་རྡོ་རྗེའི་རིམ་པ། ནོར་བུ་འགེངས་པའི་རིམ་པ། ཛཱལན་དྷ་རའི་རིམ་པ་དང་བསམ་གྱིས་མི་ཁྱབ་པའི་རིམ་པ་བཅས་རིམ་པ་ལྔ་པོ་དེ་དག་བསྟན་ཡོད། བོད་འགྱུར་གྱི་ཕྱུག་དཔེ་ཕྱོགས་བཏུས་བསྟན་འགྱུར་ནང་སློབ་དཔོན་ཉིད་ཀྱི་རང་འགྲེལ་ཡང་བཞུགས་ཡོད། གཞུང་གི་བརྗོད་དོན་ཤིན་ཏུ་གལ་གནད་ཆེ་བ་ལ་བརྟེན་ནས་ལེགས་སྦྱར་གྱི་གཞུང་དང་དེའི་བོད་འགྱུར་དཔར་མཚུངས་བསྡུར་དང་ཞུས་བསྒྲིགས་བགྱིས་ཏེ་ཧྲཱིཿའདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་པར་བསྒྲུན་ཞུས་ཡོད།

འཕགས་མ་གཟའ་རྣམས་ཀྱི་ཡུམ་ཞེས་བྱ་བའི་གཟུངས། ༡༨༦ - ༡༩༨

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་གི་རིག་གནས་བྱུང་རིམ་ནང་གཟུངས་ཀྱི་བྱུང་རིམ་དེ་དར་ཁྱབ་ཧ་ཅང་ཆེན་པོ་ཡོད། གོང་བཀོད་གཟུངས་ཀྱི་གཞུང་འདི་ལ་རྒྱུད་འབུམ་གྱི་ཁྲོད་དུ་གཟུངས་རྒྱས་བསྡུས་ཁག་གཉིས་དང་། མདོ་སྡེའི་ཚུལ་དུ་འང་མཇལ་རྒྱུ་ཡོད། ཧྲཱིཿདུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་གཟུངས་ཕྱོགས་བཏུས་ཞེས་པའི་པོད་ལས་བྱུང་བ་འཕགས་མ་གཟའ་རྣམས་ཀྱི་ཡུམ་ཞེས་བྱ་བའི་གཟུངས་འདི་བཀོད་ཡོད། གཞུང་འདིའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཕྱ་བའི་མ་དཔེ་རྣམས་ལ་ནང་ཕན་ཚུན་མི་འདྲ་བའི་ཁྱད་པར་ཕྲན་བུ་ཡོད། དེ་བཞིན་དུ་གཞུང་འདིའི་བོད་འགྱུར་ལ་འགྱུར་མི་འདྲ་བ་ཁག་གཉིས་ཡོད་ཅིང་། དེ་དག་གི་དབར་ལ་ཡང་མི་མཐུན་པ་ཅུང་ཟད་ཡོད་ཅིང་དེ་རྣམས་ལ་གང་འོས་དག་ཞུས་དང་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་ཡོད།

•••